काव्य-विनोद

[युक्त प्रांतीय शिक्षा-विभाग द्वारा इण्टरमीडिएट कक्षा के लिए स्वीकृत]

सम्पादक

'सिन्दूर की होली', 'राजयोग', 'मुक्ति का रहस्य',

'आधीरात' 'गरुणध्वज' आदि नाटक

के रचयिता

श्री पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र बी० ए०



गयाप्रसाद एण्ड संस

पुस्तक प्रकाशक

आगरा

मूल्य २॥)

मुद्रक—
पं० मगनकृष्ण दीक्षित एम० ए०
दीक्षित प्रेस, इलाहाबाद

विषय-सूची

निवेदन

कविताओं का यह संग्रह, जिस दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है उसका निर्देश इन दो रूपों में किया जा सकता है:—

(१) विद्यार्थियों की रुचि को संस्कृत कर स्वस्थ और विकसित साहित्य की ओर उनके भीतर आकर्षण पैदा करना, और

(२) इस कोटि के काव्य और साहित्य के माध्यम से उनके जीवन में शक्ति और स्फूर्ति के अवसर प्रदान कर समाज के भावी निर्माण मे उनकी सही जगह बनाना।

इतना तो निर्विवाद है कि हमारे आज के विद्यार्थी जो सोलह और बीस वर्ष की अवस्था के भीतर, शिक्षा की मध्य स्थिति को प्राप्त हो रहे है आगे चल कर समाज के अगुआ के रूप में सामाजिक कर्तव्यो का भार उठायेंगे। हमारी यह भावी पीढ़ी, हमारे भावी समाज और हमारी भावी संस्कृति का निर्माण करेगी। इसलिए हमे अपने विद्यार्थियो की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक बनावट में उन प्राकृतिक, इसलिये वैज्ञानिक तथ्यों को रखना होगा जिनके बल पर, स्वाभाविक

जीवन की कला वे अपना सकें और उसके फल स्वरूप स्वस्थ और सम्मुन्नत नागरिक भी बन सकें। यदि यह इतना सम्भव हो सके, तो फिर शिक्षा के लिए किसी भी काल्पनिक स्वर्ण युग का निर्माण करना सरल होगा।

इस दृष्टिकोण से विद्यार्थियो की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं पर ध्यान देते हुए इस संग्रह की कविताओं का चुनाव किया गया है। नैतिक सिद्धान्त और वैज्ञानिक दृष्टिकोण विद्यार्थियो के चरित्र के विकास मे सहायक हो, जीवन की समस्याओ के प्रति वे सदैव आशावादी रहें, शक्ति और स्फूर्ति उनके भीतर से अनायास निकलती रहे और जब कभी कर्म करने का अवसर मिले वे सतत सचेष्ट और जागरूक हों। उनकी सहानुभूति व्यापक हो। उदारता, आत्म-विश्वास, बौद्धिक और मानसिक समतुलन का महत्त्व वे ठीक-ठीक समझ सकें। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए संग्रह में ऐसी कविताओ को स्थान देना है, जो विद्यार्थियो की रुचि का परिष्कार कर कुरुचिपूर्ण और अश्लील वस्तुओ की ओर से अरुचि पैदा करें। जिनका मुख्य उद्देश्य ही किशोरावस्था की असंयत भावुकता के ऊपर विवेक का प्रकाश फैलाना है।

इस दृष्टिकोण से इस संग्रह की कविताओ के चुनाव में विभिन्न कवियो की पूरी काव्य-रचना पर विचार कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि किस कवि विशेष की रचना का कौन-सा अंश उपयोगी होगा और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं

की पूर्ति करेगा। हिन्दी काव्य साहित्य के ऐसे उद्धरण जो विद्यार्थियों की अवस्था और उनके बौद्धिक क्षितिज के साथ लगाव पैदा कर सकें, इस संग्रह का मुख्य उद्देश्य है।

कबीर साहब के ऐसे पद जो अधिक दार्शनिक और रहस्य-पूर्ण होने के कारण जटिल और दुर्बोध हो उठे हैं, जिनमे शुद्ध साहित्य का रस तो कम है किन्तु वाग्वैचित्र्य और साम्प्रदायिक दम्भ अधिक है, सावधानी से छोड़ दिये गये हैं। उनके केवल वे पद जो सदाचार और लोकनीति के उद्बोधक हैं इस संग्रह में दिये गये है। महात्मा सूरदास की श्रद्धा उनकी वन्दना और श्रीकृष्ण की बाल लीला मे इतनी व्यापक और सहानुभूतिपूर्ण है कि उसके आगे कल्पना की भी गति नहीं। इन्हीं प्रसंगों में सूर की प्रतिभा पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है। इस संग्रह मे इन स्थलों के अतिरिक्त भ्रमरगीत और इनके दृष्टि-कूट के कुछ नमूने व्यंग्य और शब्द-चातुरी के लिए दे दिये गये है। जायसी की प्रतिभा प्रेम और प्रकृति वर्णन में निखर उठी है इसलिए उनके वे मार्मिक स्थल इसमे संग्रहीत है।

सब से अधिक कठिनाई गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं के संग्रह के सम्बन्ध मे पड़ी है। भारतीय जनता के इन सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि की रचनाओं का कौन सा अंश लिया जाय? मानव जीवन के सारे भावों और व्यवहारों में ये इतने पटु और व्यापक हैं, इनकी रचनाओं में लोक-कल्याण और मंगल की भावना इस अंश तक घुली-मिली है कि इनके बारे

में संकलन बुद्धि सब ओर से हार कर विस्मय विभोर हो उठती है। भारतीय परम्परा के अनुसार इनके लिए तो मैंने इन्हीं को प्रमाण माना है। काव्य की उत्पति और उसके स्वरूप की पहचान जो इन्होने दी है, विचार की किसी भी पद्धति में उसकी मान्यता अडिग रहेगी।

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना॥
जौ बरसइ बर बारि विचारू। होहि कबित मुकुतामनि चारू॥"

सत्य तो यह है कि इस संग्रह के पूरे संकलन मे मैंने गोस्वामी तुलसीदास के इसी दृष्टिकोण का आश्रय लिया है। कालक्रम के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास, कबीर, सूर और जायसी के बाद आते है, किन्तु हमारी भावना में उन्हें जो सर्व-श्रेष्ठ और सर्वमान्य पद मिल चुका है, उसकी प्रेरक-शक्ति के रूप मे, उनके रामचरित-मानस के विजय-रथ का वर्णन संग्रह के प्रथम पृष्ठ पर दे दिया गया है।

कविता संग्रह के पहले कवि परिचय, शैली, भाषा की विशेषतायें और कवि की भाव-भूमि तथा अन्त में क्लिष्ट शब्दों के सरल अर्थ और पौराणिक अन्तर्कथाएँ दे दी गई है। हिन्दी काव्य साहित्य के विकास का आलोचनात्मक इतिहास संक्षेप मे पुस्तक के आरम्भ मे देकर, साहित्य के आलोचनात्मक अनु-शीलन की ओर विद्यार्थियों को आकर्षित किया गया है।

—लक्ष्मीनारायण मिश्र

विषय-प्रवेश

हिन्दी भाषा और काव्य-साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से साधारणतः पॉच भागो मे विभाजित किया जाता है। कालक्रम और मूल धाराओ के आधार पर यही ठीक है, नहीं तो, इस विभाजन मे एक एक भाग के भी कई भाग किए जा सकते है। यह विभाजन साधारण पाठको और विद्यार्थियो की आवश्यकताओ पर विचार करते हुए ठीक जॅचता है, कि उन्हें साहित्य के इतिहास की केवल एक अटूट लड़ी की जरूरत है, साम्प्रदायिक विभेदो और धार्मिक पन्थो पर अधिक सोचने विचारने का समय उनके पास नही है। इन पॉच विभागो का नामकरण इस तरह किया गया है :—

१—अपभ्रंश काल। २—वीरगाथा काल। ३—भक्तिकाल। ४—रीतिकाल और ५—आधुनिक काल। इन पॉच कालो मे भाषा और काव्य का जो रूप रहा है क्रमशः दिया जा रहा है।

अपभ्रंश काल

अपभ्रंश काल अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास मे स्वतन्त्र रूप मे स्वीकार नही किया गया है। इतिहासकार अपभ्रंश को केवल हिन्दी भाषा की जननी के नाम से याद करते आये है। अपभ्रंश से हिन्दी का जन्म हुआ, यही बात कम या अधिक हिन्दी-साहित्य के इतिहासो मे मिलती है। इस काल

का अधिकांश साहित्य लुप्त हो चुका है और जो कुछ उपलब्ध भी है उसकी खोज भी अभी पूरी नहीं हुई। न तो उसका प्रकाशन हुआ और न सम्पादन। इधर जो नई खोज हुई है, विशेषतः महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो चन्दबरदाई के पहले कोई पचास अपभ्रंश के कवियों और उनकी कविताओं का पता लगाया है, जिनमें कई कवि महान हैं, जिन्होंने महाकाव्यों की रचना की है। इसलिए वीरगाथा काल के पहले अपभ्रंश काल को स्वीकार करना अब अनिवार्य होगया है।

अपभ्रंश काल के निश्चय के पहले 'अपभ्रंश' शब्द का निश्चय करना होगा कि किस समय तक यह शब्द चल पड़ा था। 'पाणिनि' ने जिस 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया है वह 'पालि' या प्राकृत के लिए किया गया है। भरत मुनि ने जो पाणिनि से प्रायः ६०० वर्षों बाद हुए थे 'अपभ्रंश' नाम न देकर 'देशभाषा' ही कहा है। वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' में भी 'अपभ्रंश' का उल्लेख नहीं है। जो अपभ्रंश हिन्दी की जननी है उसका पहला उल्लेख वल्लभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख मे मिलता है, जिसमे उसने अपने पिता गुरुसेन, वि० सम्वत् ६५० के पूर्व, को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो का कवि कहा है। भामह, सातवी सदी, ने भी तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है। बाण के हर्ष चरित मे संस्कृत कवियो के साथ भाषा कवियों की भी चर्चा की गई है। इस प्रकार अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी की आरम्भिक रचनाओं का पता विक्रम की सातवी सदी से ही चलने लगता है।

अपभ्रंश के कवियो मे एक बहुत प्रसिद्ध सिद्ध कवि सरहपा का समय सं०—७६० है। इनकी रचनायें चौपाइयो मे हुई है। इनके बाद के दो प्रसिद्ध कवि शबरपा और कण्हपा है जिनका समय क्रमशः सं—७६० और ८५० है।

अब इसके बाद एक बहुत बड़े कवि स्वयम्भू का प्रादुर्भाव होता है। इनका समय सं०—७६० है। इनकी प्रसिद्ध रचनाये हैं 'रामायण' या 'पद्मपुराण' और 'हरिवंश'। इनकी रचनाये भी चौपाइयो में है और प्राय: ठीक-ठीक गोस्वामी तुलसीदास की तरह आठ चौपाइयो पर दोहा या सोरठा का घत्ता है। इनके ये दोनो ग्रन्थ पचास हज़ार पंक्तियों में समाप्त हुए हैं। इनकी रामायण में प्रायः वही क्रम कथा का है जो गोस्वामी तुलसीदास की रामायण का है। आरम्भ में उन्होंने भी कवि कर्म को बातें कह कर सज्जन और दुर्जन की बन्दना की है। इनके ऋतु-वर्णन के साथ गोस्वामीजी का ऋतु-वर्णन भावो में ही नही शब्दो मे भी मिलता चलता है, और भी अनेक प्रकरण दोनो रामायणो के जैसे एक ही आधार पर टिके लगते है। ये महाकवि जैन थे।

'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।'

गोस्वामी जी ने इस 'क्वचिदन्यतोऽपि' मे कदाचित् इन्ही की रामायण की ओर संकेत किया है। किन्तु इससे गोस्वामी जी की महिमा घटती नही। इससे तो यह सिद्ध होता है कि उन्हे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो ही भाषाओ का पूरा ज्ञान था।

'रावण रामहु जुज्झु जग तंग निसुणहु रामायण'

स्वयम्भू की इस पंक्ति का गोस्वामी तुलसीदास की भाषा मे वह रूप होगा :—रामण रामहु जुझेउ जो सोइ सुनहु रामायण।

स्वयम्भू के बाद का बड़ा कवि जैनपुष्पदन्त स०—६५६-७२ है, जिसने 'महापुराण' की रचना की। सं०—१००० में धनपाल ने 'नाग चरित' बनाया। त्रिपुरी के राजा कणकलचुरी

का राजकवि बब्बर सं०—१०५० मे आता है, जिसने फुटकर रचनायें विरह, ऋतुवर्णन और वीर रस की भी की हैं। जैन कवि कनकामर का समय सं०—१०६० है जिसने 'करकन्द चरित' की रचना की है। इसके बाद प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र का प्रादुर्भाव सं०—११२० है, जिसने अपने संग्रह मे अपभ्रंश के अनेक कवियो की रचनायें संग्रहीत की है। ये वैयाकरण, पिंगलकार और दार्शनिक भी थे। हरिभद्र, समय सं० –११५६, ने भी एक महाकाव्य लिखा है। ये दोनो ही जैन थे। महाराज जयचन्द्र के राजमन्त्री विद्याधर का समय सं०—११८० है, जिन्होने ऋतु, शृङ्गार और काशिराज (जयचन्द) की वीरता की भी रचनाये अपभ्रंश मे की है। सं०—१२०० मे चन्दबरदाई का समय आता है, और उसके कुछ पहले ही से वीरगाथा-युग का आरम्भ भी हो जाता है। भाषा तो अपभ्रंश मिश्रित सोलहवी सदी क आधे समय तक पहुँच जाती है किन्तु वर्णित विषयो की भिन्नता के कारण यह अपभ्र श सं—१०५० माना जाता है। इसलिए सातवी सदी से लेकर ग्यारहवी की अर्धशताब्दी तक अपभ्रंश काल माना जा सकता है। इस अपभ्रंश-काल की विशेषताये है, प्राकृत के बन्धन से मुक्त होकर देश भाषा मे कवियो की रचनाये, जिसमे उन्हे पूरी सफलता तो नही मिली। यह काल सिद्धो का काल है, जिसमे गोरखनाथ की तरह (१० वी सदी) सिद्धो की लम्बी परम्परा चली आती है। योग और तन्त्र के मेल मे इन्होने कुछ ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त करली थी, जिनका प्रभाव जनता पर बहुत पड़ा और जनता इन्हे लोकोत्तर गुणो से सम्पन्न अपूर्व शक्तिशाली महात्मा मानने लगी थी। इनमे वज्रयान बौद्ध और जैन दोनो ही तरह के सिद्ध थे। बौद्धो के ८४ सिद्धो की लम्बी नामावली भी मिल चुकी है। जैन सिद्धो मे नैतिक आचरण का महत्त्व था इसीलिए स्वयम्भू

और पुष्पदन्त सिद्ध होते हुए भी लोक-पक्ष को बिगाड़ते नहीं। किन्तु बौद्ध सिद्धों ने मदिरा और नारी को सुख का सबसे बड़ा साधन बनाया। साधारण जनता पर इस विकृति का क्या प्रभाव पड़ा होगा कहने की आवश्यकता नहीं। यह सब होते हुए भी इन सिद्धों की जो सब से बड़ी विशेषता है, वह यह है कि इन्होंने भक्तिकाल के कवियों की तरह शरीर को मल, मूत्र, मज्जा, माँस, अस्थि और त्वचा का सन्निपात कह कर नहीं बनाया, प्रत्युत यह तो शरीर को तीर्थ कहा करते थे। इन्हीं सिद्धों की वाणी अपभ्रंश मे आरम्भिक हिन्दी के तीनों रूप— ब्रज, अवधी या पूर्वी हिन्दी और खड़ी बोली देख पड़ते हैं। अपभ्रंश से धीरे-धीरे देश भाषा का जो रूप बनता जा रहा था, उसमे भी कविजन रचना करते जा रहे थे। इसीलिए हमे एक ही काल मे अपभ्रंश की रचनायें भी मिलती हैं और देश-भाषा की भी।

बीसलदेव रासो (तेरहवीं सदी) मे राजपूताने की देश-भाषा की झलक मिलती है।

"कुँवरि कहइ सुणि साँभरया राव
काइँ स्वामी तू उलगई जाइ ?"

किन्तु प्राय: इसी समय पृथ्वीराज रासो मे प्राकृत और अपभ्रंश के अधिक शब्दों के रहते हुए भी तत्सम प्रयोग अधिक है। जैसे—

मनहु कला ससभान कला सौलह सो बन्निय।

और—

कमल-गंध, वयसंध, हँस गति चलति मन्द मँद।

भाषा का यही रूप चौदहवीं सदी तक मिलता है जिसमे अपभ्रंश अपने पुराने ढर्रे पर काव्य की भाषा है और उसी समय देशभाषा में भी रचनायें है। हम्मीरदेव रासो की भाषा—

चलिअ बीर हम्मीर पाइभर मेइणि कंपइ ।
मन मेघाह अंधार धूलि सुर-रह आच्छाइहि ।

का जहाँ यह रूप है, वहीं इसी का समकालीन ख़ुसरो लिखता है—

एक नार दो को ले बैठी,
टेढ़ी होके बिल में पैठी ।

पन्द्रहवीं सदी के मैथिल कवि विद्यापति मे तो दोनों ही भाषाओं के सफल निर्वाह का लक्षण दिखाई पड़ता है । एक ओर तो ये—

'बालचन्द बिज्जावइ भाषा' ।
दुइनहिं लागहिं दुज्जन, हासा ।

और दूसरी ओर

'सरस वसंत समय भल पाओलि, दछिन पवन वह धीरे' कहते है । अपभ्रंश की पुरानी काव्य भाषा पहले उद्धरण मे है और सरस लोक भाषा दूसरे उद्धरण मे । एक ही कवि की भाषा के ये दो रूप उस काल की लोक-भाषा और काव्य-भाषा पर पूरा प्रकाश डालते है ।

वीरगाथा काल

इस वीरगाथा काल मे भारतवर्ष का मानचित्र, विशेषतः उत्तर-भारत का जो हिन्दी का क्षेत्र है, बहुतेरे छोटे-छोटे टुकड़ों मे विभाजित देख पड़ता है । सातवीं सदी मे ही सम्राट हर्षवर्धन के समय मे विशृङ्खलता के चिह्न सारे देश में प्रकट हो गये । केन्द्रिय शक्ति की अवहेलना होने लगी । देश का नैतिक आदर्श हीन होने लगा और उसके फल स्वरूप हर्षवर्धन के चारों ओर ही प्राचीन भारत की विद्या, कला, कौशल, काव्य और साहित्य को आश्रय मिला । उसके बाद ही इस देश से सार्वभौम सत्ता

सदैव के लिए मिट गई और छोटे-छोटे राज्य सारे उत्तरीय, भारत में खड़े हो गये। इन्हें ठीक अर्थ में राज्य भी नही कह सकते। ये तो केवल सामन्त से देखे जा सकते हैं और सामन्तशाही की प्रथा का जन्म भी इनके साथ इस देश मे होता है। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा, कालिञ्जर, महोबा और और भी बहुतेरे छोटे राज्य उभर आये। इन राज्यो मे किसी प्रकार का सहयोग आपस मे नही था। धर्म और संस्कृति भी इन्हे बाँधकर एक न कर सकी। इनमे आपस में निरन्तर लड़ाइयाँ होती रहती थी। उन लड़ाइयो के कारण राजनीतिक न होकर विवाह, आखेट यहाँ तक कि वर्ष के पर्व भी होगये थे। जगनिक का आल्हखण्ड विशेष प्रामाणिक न होकर भी इस युग के इन राजाओ का सही चित्रण करता है। 'आल्हखण्ड' की सारी लड़ाइयाँ— आल्हा, ऊदल, मलखान और ब्रह्मा के विवाह की समस्या को लेकर लड़ी गई है। किसी राजघराने की कन्या को युद्ध के द्वारा प्राप्त करने की जैसे उस समय पद्धति चल पड़ी थी, जिसमे उत्तर भारत के वीरो का स्वाहा हो गया। संयोगिता-हरण में ही दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज के सात प्रधान सेनापतियो मे से छः मारे गये, केवल एक चामुण्डराय बच रहा। संयोगिता तो मिली लेकिन कितने महँगे दामों पर ? कदाचित युद्धप्रिय किन्तु मूढ़वृत्ति पृथ्वीराज ने उसका विचार ही नही किया होगा। अथवा संभव है बार बार के पराजित शत्रु, शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी से वे जब अन्त में हार गये और उन्हें उसका बन्दी होना पड़ा, उस समय अँधेरे कारागार में, उन्हें अपने वे वीर याद आये हो जिनका बलिदान उन्होने संयोगिता को निकाल भगाने मे किया था, और जिस युद्ध में गोरी के आक्रमण के पहले ही दिल्ली और कन्नौज दोनों ही राज्यो की कमर टूट चुकी थी। इन राजाओ का बल इनका सारा भौतिक साधन स्त्री के लिए युद्ध करते-करते समाप्त होगया। यह

ही धर्म और एक ही जाति के इन राजाओं मे इस निरन्तर के संघर्ष ने इनकी राजनीतिक और धार्मिक दूरदर्शिता को भी मार डाला। इन राजपूतों की संघ शक्ति छिन्न-भिन्न होगई। आपसी कलह मे इन्होने बाहरी शत्रु को बढ़ने का मौका दिया। मुसलमान आक्रमणकारी उस समय इस देश पर पश्चिमोत्तर मार्गों से धावा मार रहे थे। देश की इस विषम परिस्थिति मे उन्हे और भी मौका मिला। फल यह हुआ कि उनके आक्रमण के उद्देश्य मे भी मौलिक परिवर्तन हुआ और महमूद ग़जनी की लूट की नीति, बदल कर, ग़ोरी की इस देश मे राज्य कायम करने और धर्म फैलाने की नीति हो गई। मुहम्मद ग़ोरी ने पृथ्वीराज को पराजित कर मुसलमानी झण्डा दिल्ली मे यमुना के किनारे लहरा दिया। उसके बाद कन्नौज-कालिञ्जर के पतन से मुसलमानी राज्य की जड़ इस देश मे जम गई। इस काल के हिन्दू कायर नही थे। वीरता का आदर्श उनका बहुत ऊँचा था :—

'द्वौविधौ पुरुषौः लोके सूर्यमंडलभेदिनौ' महाभारत युग का यह आदर्श इस युग मे सर्वमान्य हो चुका था। युद्धक्षेत्र मे मरने वाला वीर सूर्य मण्डल भेदकर स्वर्ग प्राप्त करता है, इस युग के राजपूतों में अडिग विश्वास बन गया था। किन्तु विजय केवल शारीरिक बल, मर मिटने की चाह पर ही निर्भर है, उसके लिए सामाजिक और राजनीतिक विवेक की ज़रूरत पड़ती है। इस विवेक के अभाव मे राजपूतो ने लड़कर प्राण तो दे दिया, किन्तु विजय न प्राप्त कर सके। रणथम्भोर के हम्मीर देव के रूप मे राजपूतो की वीरता ने अन्तिम बार प्रयत्न किया, किन्तु घर में जब चार ओर से आग लग चुकी थी वह जलकर भस्म होगया। जो आक्रमण सातवी सदी मे आरम्भ हुए थे तेरहवी शताब्दी में सफल हुए और इस देश मे अलाउद्दीन खिलजी के समय मे सारा उत्तर भारत के मुसलमान अधिकार मे आ गया।

इस संघर्ष और युद्ध के वातावरण मे अपभ्रंश से हिन्दी वीर काव्य का जन्म हुआ और उस काव्य-शिशु का भरण-पोषण भी रणक्षेत्र ही मे हुआ। इसलिए स्वाभाविक है कि उसकी वाणी ओजपूर्ण और वीर-रस-प्रधान हुई। सामाजिक जीवन की जब सबसे प्रधान समस्या ही युद्ध हो, उस समय वीर और रौद्र छोड़कर दूसरे रसो के लिए अवसर और स्थान ही कहाँ मिलेगा? इसलिए इस युग के काव्यो में वीरो के आदर्श के आधार पर वीर रस की ही पुष्टि हुई है और इसीलिये इसे वीर-गाथा काल कहते है। इन वीर काव्यों मे रचयिता विशेषतः चारण अपने राजाओ के साथ युद्ध और आखेट मे बराबर रहते थे। वे केवल लेखनी के ही नही तलवार के भी धनी होते थे। इसीलिये वीर-रस के चित्रण मे उन्हे सफलता भी मिली है। इनमे प्रबन्ध काव्य और मुक्तक दोनो ही शैलियाँ मिलती है।

वीरगाथा काल की प्रारम्भिक रचना नवी सदी, खुमानरासो है। किन्तु आज दिन इस ग्रन्थ मे प्रक्षिप्त अश अधिक है और इसका मूल अंश अभी तक ठीक निश्चित भी नही किया जा सका। इस युग की सब से प्रसिद्ध रचना पृथ्वीराज रासो, सम्वत् १२५० है। इसमे चौहान पृथ्वीराज के जीवनवृत्त के वर्णन मे छन्द, अलंकार, रस और अन्य सभी काव्यांगो का निर्देश है। इसके युद्ध, रति-केलि, विहार और प्रकृति के वर्णन भी काव्य-गुण सम्पन्न है, किन्तु यह ग्रन्थ जिस रूप मे उपलब्ध है उसकी प्राचीनता और मौलिकता संदिग्ध है। प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इसे अप्रामाणिक और अनैतिहासिक कहा है। यहाँ तक कि चन्द के अस्तित्व के सम्बन्ध मे भी शंकाये की गई है। भट्ट केदार का जयचन्द प्रकाश और मधुकर की जयचन्द-यश-चन्द्रिका, सारंगधर का हम्मीर काव्य और

नल्लसिंह का विजयपाल रासो इस काल के प्रमुख काव्यग्रन्थ हैं। किन्तु अभी तक इनकी खोज न हो सकी।

मुक्तक काव्यकारों मे नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो है, जिसमे बीसलदेव के विवाह, उनकी उड़ीसा यात्रा और अन्य प्रसंग गाने लायक कविता में वर्णित हैं। इससे अधिक लोकप्रिय जगनिक का 'आल्हखण्ड' है जिसका प्रचार उत्तर-भारत के गॉव-गॉव मे है और लोग बरसात के महीने जिसके पढ़ने और सुनने में बिता देते हैं। किन्तु जगनिक के इस काव्य का आकार बराबर गाये जाने के कारण बहुत बढ़ता गया। इसकी प्राचीनता भी सन्देह-पूर्ण है।

भक्ति काल

सम्वत् १३७५ से सम्वत् १७०० तक भक्तिकाल माना जाता है। इस काल में प्राय: सारे देश में मुसलमान सत्ता प्रतिष्ठित हो चुका थी। हिन्दू जनता के हृदय मे गर्व, गौरव और उत्कर्ष के लिए कुछ भी शेष न रहा। देव मन्दिरों और मूर्तियों का ध्वंस हिन्दू जनता अपनी ऑखों देखती थी, पूज्य पुरुषों का अपमान, बलात् धर्म-च्युत किया जाना नित्य की बाते थी। इस विवश स्थिति मे हिन्दू जनता निराशा की चरम सीमा को पहुँच गई। धर्म परिवर्तन या मृत्यु और 'दारुले हरब' या 'दारुले इसलाम' मे किसी एक को स्वीकार करना था। पराजित होने पर भी इस जनता ने इस देश को 'दारुले इस्लाम' होने से बचा लिया और यह देश आज भी 'दारुल हरब' है। हिन्दुओ की इस राजनीतिक पराजय ने आध्यात्मिक विजय का द्वार खोला और उनकी विवशता को एक मात्र भगवान की असीम शक्तियों के विश्वास और करुणा मे आश्रय मिला। संसार की निराशा भगवान की शरण मे अब उतनी दाहक न रह गई। महापुरुषों ने परमेश्वर की

अनन्त शक्तियों का गान गाया। उनकी करुणा, उनकी भक्त-वत्सलता और अत्याचारियों से त्राण करने की उनकी शक्ति की वाणी सारे देश में गूँजने लगी। निराश जनता को सहारा मिला और यही प्रश्न पूछा जाने लगा कि 'जिसने ग्राह से गज की रक्षा की वही क्या म्लेच्छों से जनता की रक्षा न करेगा' ? उसके प्रति निष्ठा भर होनी चाहिए—वही निष्ठा जो अन्तिम समय गज को हुई थी। ईश्वर की विभूति का वर्णन कर, सांसारिक निराशा में आध्यात्मिक आशा पैदा करने वाले महापुरुषों के इस काल को भक्तिकाल कहते हैं।

इन महात्माओं की तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं। १—समन्वयवादी-ज्ञानाश्रयी निर्गुणोपासक :—समन्वयवादी प्रमाश्रयी निर्गुणोपासक और २—शास्त्रीयविधि के सगुणोपासक।

हिन्दू मुसलमानों का संघर्ष कुछ कम पड़ गया था। सारा देश मुसलमानों के शासन और आतंक के नीचे आ गया था। प्रकट रूप में मुसलमानों का विरोध करने की शक्ति हिन्दुओं में न रह गई थी। किन्तु भीतर ही भीतर वैमनस्य और घृणा का भाव तो चल रहा था। इस वैमनस्य और घृणा को बन्द करने के लिए और हिन्दू-मुसलमान दोनों में भ्रातृभाव अथवा मानवता के आदर्शों को पैदा करने के लिए निर्गुण पद्धति के सन्त आगे आये जिनमें कबीर मुख्य हैं। कबीर ने जाति-पाँति और धार्मिक भेदों को मिटाने के लिए ईश्वर का एक ही रूप स्थिर किया जो हिन्दुओं का भगवान था और मुसलमानों का खुदा भी। उसके यहाँ प्राणिमात्र के लिए समान स्नेह और समान कर्त्तव्य था। हिन्दू, मुसलमान का विभेद वह ईश्वर नहीं मानता उसकी तो सभी सन्तान है और सब पर उसका बराबर स्नेह भी है। जातियों और धर्मों के भेद पैदा करने वाले शास्त्रीय पण्डित और कुरान के मुल्ले हैं, जिन्होंने दुनियाँ को उसका उद्देश्य गलत

समझाकर संसार को भ्रम मे डाल रक्खा है। सभी जातियों और सारे धर्मों में समन्वय पैदा करना कबीर और इनकी पद्धति के दूसरे सन्तो ने चाहा था जिनमे नानक, दादू, रैदास, मलूकदास अधिक प्रसिद्ध है। इन महात्माओ की वाणी और भाषा का परिष्कार नही हुआ था और न तो इनकी रचनाओ मे साहित्य-सुषमा ही पैदा हो सकी किन्तु तब भी सीधी बात को सीधे कहने का इनका ढङ्ग बडा आकर्षक और जनप्रिय हुआ। उन्हे निर्गुणपन्थ की ज्ञानाश्रयी शाखा मे आलोचको ने स्थान दिया है।

इस पद्धति के सन्तो की खरी अटपटी बातो ने जनता को आकर्षित तो किया, किन्तु उसे उसमे जीवन का सुख न मिल सका। इनका बुद्धि पक्ष परोक्ष सत्ता के प्रति लोगो मे उत्तेजना पैदा करता रहा, जिसमे उनकी न तो रागात्मक तृप्ति हुई और न उन्हे आन्तरिक शान्ति मिली। जनता की रुचि हर समय तर्क और बुद्धि पर नही लगी रहती और फल यह हुआ कि प्रतिक्रिया के लक्षण दिखाई पडने लगे। इस प्रतिक्रिया से सूफी फकीरो और सन्तो को बल मिला और उन्होने कल्पित और ऐतिहासिक कथाओ के आधार पर लौकिक प्रेम के भीतर से ही ईश्वर के प्रेम की झाँकी दिखलाई। हिन्दुओं की प्रचलित और आदर्श कथाओ का चित्रण कर इन्होंने हिन्दू जनता के प्रति उदारता दिखाकर अपनी व्यापक सहानुभूति का परिचय दिया। इन्होने भी हिन्दू मुसलमानो का भेद मिटाया किन्तु तर्क और बुद्धि से नही, बल्कि जीवन का साम्य दिखा कर। इस पद्धति मे जायसी प्रमुख है जिनका प्रसिद्ध 'पद्मावत' अवधी मे लिखा गया है। कुतबन, मंझन, उसमान कासिम, नूरमुहम्मद आदि इस पद्धति के अन्य कवि है। सूफियो का रहस्यवाद इनकी रचनाओ मे लौकिक आधार पर टिका है। इन्हे प्रेमाश्रयी निर्गुणोपासक कहा जाता है।

इसके बाद हिन्दी साहित्य मे वह महान् युग आता है जो ठीक अर्थों मे भक्तिकाल कहा जा सकता है। कबीर और जायसी ने अपने भिन्न मार्गों से एक ही उद्देश्य पर पहुँचना चाहा था। ईश्वर का एक ही प्रेम और ज्ञानमय रूप देना जो हिन्दू मुसलमान दोनो जातियो और धर्मों के लिए मान्य हो, इन दोनो का उद्देश्य था। इन सन्तो ने जनता की निराशा और विवशता को कुछ अंशो तक मिटाया भी किन्तु इनकी निर्गुण उपासना हिन्दू जनता को अधिक दिनो तक प्रभावित न कर सकी। घट के भीतर रहने वाला कब तक छिपा पड़ा रहेगा? लोकपक्ष में उसकी कोई जगह हो सकती है या नहीं? इस तरह की शंकायें चल पड़ी। अधिकांश जनता ईश्वर की विभूति मनुष्य मे ही देखना चाहती थी। शब्दो की भूलभुलैया से वह ऊब उठी थी। और फिर वैदिक युग से हिन्दू संस्कृति का जो विशिष्ट रूप इस देश मे चला आ रहा था वह यहाँ तक कि जनता के लिए सब ओर से उपयोगी और पूर्ण था। निर्गुण उपासना मे हिन्दू जाति के ही मिट जाने की शंका पैदा हो गई। हिन्दुत्व छोड़कर इन सन्तो के उपदेश के अनुसार मुसलमानो मे मिल जाना लोकपक्ष के लिए मान्य न हो सका। दक्षिण मे श्री रामानुज ने वैष्णव उपासना की जो धार बहाई थी वह अब बढ़ते बढ़ते नद हो चुकी थी और समुद्र तक पहुँचने के मार्ग मे जो बाधाएँ हो सकती थी, सब को ठेल कर आगे बढ़ने मे वह समर्थ थी।

केवल हिन्दी ही नहीं अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे भी सगुणोपासना का श्रेय श्री रामानुजाचार्य को दिया जा सकता है। युग विधायक आचार्य रामानुज ने देखा कि मुसलमानो का पैगम्बर खुदा का फरिश्ता है और वह अन्धी जनता को उसके पापो से मुक्त करा देने की शक्ति का भी प्रदर्शन प्रचारकों द्वारा कर रहा है। उसी समय से समुद्र से ईसाई प्रचारक भी दक्षिण मे उतर

पड़े थे, जिनका कहना था कि उनका यीशू ईश्वर का बेटा है और वह अपने स्वर्गस्थित पिता से कहकर, जो उसकी शरण मे जाय उसको पाप से मुक्त करा सकता है। यह समय हिन्दू-जनता के लिए बडे संकट का था। अशिक्षित और अन्धी जनता गूढ़ दार्शनिक तत्त्वो को समझ नही सकती थी और न तो निर्गुण ब्रह्म की मीमांसा ही उसकी शक्ति की बात थी। इस स्थिति मे दक्षिण से ईश्वर का पुत्र और उत्तर पश्चिम से खुदा का फ़रिश्ता जब दोनो ही अपनी ओर बढ़ आने का निमन्त्रण दे रहे थे, हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-जाति के ही मिट जाने का संकट पैदा हो गया। प्रज्ञा-चक्षु स्वामी रामानुजाचार्य ने योगिराज कृष्ण और पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र के नाम का शंख फूँककर हिन्दू जाति को सचेत किया। कहीं ईश्वर का दूत था और कही ईश्वर का बेटा ; किन्तु यहाँ तो दो नामो मे ईश्वर का स्वयं अवतार हो चुका था, फिर स्वय ईश्वर को छोड़कर दूत और बेटे क पीछे कौन दौड़े ? इस प्रकार जनता को ईश्वर का वह रूप मिला जो करुणामय होते हुए भी अत्याचारियो के दमन मे भी सशक्त था। उत्तर भारत मे भगवान रामचन्द्र की भक्ति का प्रचार विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी मे स्वामी रामानन्द ने और श्रीकृष्णचन्द्र की भक्ति का प्रचार, महाप्रभु बल्लभाचार्य ने किया। बल्लभाचार्य का सम्प्रदाय पुष्टि-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पराजित और निराश जनता को पुष्टि की आवश्यकता थी।

इन महानुभावो ने जिस वैष्णव धर्म का प्रचार किया वह १५ वी और १६ वी सदी मे सारे देश मे एक ओर से दूसरी ओर तक पूर्ण रूप मे व्याप्त हो उठा। जयदेव और विद्यापति ने श्रीकृष्ण के रूप और गुण की माधुरी तो पहले ही दिखा दी थी। बल्लभाचार्य के शिष्य सूरदास ने श्रीकृष्ण की बाल लीला, गोपी

प्रेम और विरह के चित्रों से जनता को विमोहित कर दिया। श्रीनाथ के मन्दिर में सूरदास ने जो पद गाये, वे सारे देश में अपने अलौकिक रस और माधुरी के कारण गूँज उठे। तर्क और बुद्धि लोक का निर्गुण ब्रह्म, श्रीकृष्ण के रूप में हृदय और भाव जगत का प्रतीक बन गया। बालकृष्ण की मुरली जनता के कानों में सरल स्वरों में बज उठी। सूरदास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख थे। इस अष्टछाप के अन्य कविः—नन्ददास, कृष्णदास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, परमानन्द, छीत स्वामी और गोविन्द स्वामी थे। इनके अतिरिक्त मीराबाई और अन्य कई कवियों ने इस कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय में योग दिया। कृष्ण चरित भी जो इनके द्वारा प्रचारित हुआ किसी न किसी रूप में अभी तक चला जा रहा है और इस बीसवीं सदी में भी हिन्दी कवियों ने श्रीकृष्ण चरित्र को लेकर महाकाव्य और मुक्तक काव्य की रचना की है।

श्रीरामानन्द ने जो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र की उपासना की पद्धति चलाई थी उसमें सब से यशस्वी गोस्वामी तुलसीदास हुए। इन महापुरुष ने श्रीरामचन्द्र के जीवन में केवल बाल-लीला, प्रेम और वियोग के ही मोहक चित्र दिखाकर सन्तोष नहीं किया बल्कि उन्हें लोक विधायक के रूप में चित्रित किया। लोक-रक्षण और लोक-कल्याण की विभूतियों को दिखाकर इन्होंने श्रीरामचन्द्र को हिन्दू-जाति का सब से बड़ा आदर्श और आशा केन्द्र बना दिया। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की सच्चा भावना और शुभ कर्मों की ओर इन्होंने जनता की रुचि को आकर्षित किया। 'गुह्य-रहस्य' और 'सिद्ध बानी' लोक-जीवन में कभी सिद्ध नहीं हो सकती थी; इसलिए जनता को शुद्ध आचरण और शुद्ध अनुभूति की ओर ले जाने वाले ये पहले महापुरुष हुए। कवि और भक्त होने के साथ ही साथ ये उस युग के हिन्दू-समाज में सब से बड़े विधायक हुए। हिन्दू-

समाज की दशा उस समय लहरों में पड़ी हुई नाव की तरह हो गई थी, इन्होंने अपने कुशल हाथों में पतवार सम्हाला और नाव को किनारे लगा दिया। गोस्वामी तुलसीदास ने भक्त होते हुए भी अपनी मुक्ति की उतनी चिन्ता न की जितनी लोक-कल्याण और लोक-व्यवहार की। अस्वस्थ और असंस्कृत समाज में अकेला व्यक्ति स्वस्थ और संस्कृत नहीं रह सकता। समाज से अलग खिंच जाने पर तो व्यक्ति जैसे अपनी धमनियों से खिंच जाता है। इसलिए गोस्वामीजी ने अपने समाज की दशा देखी और अपनी वाणी का उपयोग केवल अपने कल्याण के लिए नहीं अपने समाज के कल्याण के लिए किया। जैसा कि उनकी इन पंक्तियों से प्रकट है :—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥'

सब किसी के हित मे, सारे समाज के हित मे इन महात्मा को अपना हित भी देख पड़ा। लोक-कल्याण की इसी भावना के कारण वे सब जगह विनीत देख पड़ते है। उनके इतने विशाल साहित्य मे कहीं कोई गर्वोक्ति नहीं मिलती। तुलसीदास के राम अपने रूप, गुण, शील और शौर्य मे मानवी कल्पना की सब से बड़ी विभूति है। स्वभाव से उदार और विनम्र होते हुए भी वे आततायियों के संहार मे कुशल है। लोक-पक्ष मे सामाजिक जीवन के जितने भी कर्त्तव्य हो सकते है, राम के चरित्र मे सभी अपने उदात्त रूप मे गोस्वामीजी ने दिखला दिये। कबीर और दूसरे तर्कवादी सन्तों ने लोक-धर्म की अवहेलना कर हिन्दू-समाज के आधारभूत सिद्धान्तों पर आक्षेप किया था, देश में उससे बड़ी बेचैनी फैल गई थी। गोस्वामीजी ने अपने गम्भीर वाणी मे शास्त्रीय विधान को फिर से प्रतिष्ठित कर, समाज मे शान्ति और दृढ़ता पैदा की। हिन्दू संस्कृति, वैदिक और शास्त्रीय

विधान, ऐसे नहीं, जो किसी तर्क के वितण्डावाद से हिलाये जा सकें, गोस्वामीजी ने घोर-गम्भीर वाणी में इस सत्य का जय-घोष किया। उन प्राचीन आदर्शों को जो समय के अनुकूल न रह गये थे उन्होंने फिर से समय के ढाँचों में खड़ा किया। उनका रामचरित मानस पूरे सवा तीन सौ वर्षों के बाद भी हिन्दू-समाज में उतना ही पूज्य है जितना तब था अथवा कुछ अंशों में तो इसका प्रचार, और भी बढ़ता ही जा रहा है। इस ग्रन्थ-रत्न का इतना प्रचार, इसके काव्य गुणों का कारण नहीं, इसके धार्मिक और सामाजिक गौरव के कारण है। इनके चरण चिह्नों पर चलने वाले और भी कवि हुए जिनमें नाभादास, हृदयराम प्राणचन्द चौहान, सेनापति और आधुनिक काल में राजा रघुराज सिंह और श्री मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख हैं। 'रामचन्द्रिका' के लिखने वाले केशवदास तो इनके समकालीन थे, किन्तु वे राम-भक्ति को लेकर कवि नहीं हुए बल्कि उनके कवि होने का कारण उनका आचार्यत्व और संस्कृत-साहित्य का अगाढ़ ज्ञान था।

राजनीतिक दृष्टिकोण में भी वह युग, जिसमें गोस्वामीजी की अमरवाणी समाज में भक्ति के साथ ही साथ स्फूर्ति भी पैदा कर रही थी, विशेष महत्वपूर्ण है। प्रसिद्ध इतिहासकार वेन्सेन्ट स्मिथ को आश्चर्य होता है कि अकबर सरीखे संस्कृत, उदार, काव्य और कला प्रेमी सम्राट को गोस्वामीजी का परिचय क्यों नहीं मिला? अकबर स्वयं कवि था और हिन्दी के उस युग के बड़े कवि किसी-न-किसी रूप में उसके सम्पर्क में आ भी चुके थे। रहीम खानखाना, बीरबल, गंग, नरहरि, टोडरमल और होल-राय तो उसके दरबार में ही थे। रहीम के साथ गोस्वामीजी की मैत्री तो प्रसिद्ध ही है। सम्राट अकबर को रहीम से तो तुलसी-दास का पता चला ही होगा। इस स्थिति में यही संगत लगता है कि गोस्वामीजी की धार्मिक और सामाजिक प्रतिष्ठा इतनी बढ़

चुकी थी कि अकबर के लिए भी वे महान हो चुके थे और दरबारी कवियो मे उन्हे बुलाने की चेष्टा उनकी महिमा का निरादर करना था। सेनापति और नरोत्तमदास इस युग के दो और भक्त कवियो ने भी अपने को राजसत्ता या धन की माया से मुक्त रख कर ही काव्य रचना की है।

भक्तिकाल के इन कवियो ने हिन्दी कविता को प्रौढ़ और प्रायः सर्वाङ्गपूर्ण कर दिया। इस पूर्णता ने पीछे के कवियो के लिए स्थान ही नहीं छोड़ा कि उनकी पद्धति पर चल कर यश और कीर्ति की आशा कर सकते। फल यह हुआ कि इनके पीछे के कवियो ने अपनी प्रतिभा और शक्ति का उपयोग लक्षण ग्रन्थ लिखने मे किया। संस्कृत साहित्य मे भी काव्यो के बाद लक्षण युग आया था। वही बात हिन्दी मे भी हुई। लक्षण ग्रन्थो के इस काल को रीतिकाल कहते हैं।

रीतिकाल

हिन्दी कविता में यह काल संवत् १७००-१६०० तक माना जाता है। संस्कृत साहित्य मे भी कालिदास, भारवि और माघ के महाकाव्यो के बाद लक्षण ग्रन्थो का युग आया था। हिन्दी में भी यही बात हुई। भक्तिकाल के कवियो ने प्रबन्ध काव्य लिखकर कविता के क्षेत्र को प्रायः पूर्ण कर दिया था। सूर और तुलसी की गम्भीर काव्य-वाणी समाज मे व्याप्त हो गई थी। सारी जनता इन महाकवियो को वाल्मीकि और व्यास की तरह अलौकिक-शक्ति सम्पन्न मानने लगी थी। इनकी गणना कवियो मे न होकर महर्षियो मे होने लगी थी। फल यह हुआ कि इनके बाद के कवियो ने भी इन्हे उतना ही पूज्य और आदरणीय समझा और अपने कवि कर्म मे उन्होने कभी भी सूर और तुलसी का पद प्राप्त करने का न तो दावा किया और न कभी

उनके मन मे इस तरह का भावना ही पैदा हुई। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' के रूप मे रामकथा का वर्णन तो किया था किन्तु 'रामचरित मानस' की श्रद्धा, भक्ति और गौरव वे उसमे न पैदा कर सके। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के रहते हुए इस रीतिकाल के कवियो ने अपने काव्य का विषय अधिक व्यापक न बनाना ही ठीक समझा और अपनी रचनाये मानव जीवन की एक-एक भावनाओं को लेकर मुक्तक रूप मे करते रहे। इसीलिए इन्होंने सवैया और कवित्त छन्दो को अधिक अपनाया। जिसमे छोटे-छोटे भाव एक ही छन्द मे दिखाए जा सकते थे। प्रेम और शृगार जो श्रीमद्भागवत् के समय से ही सस्कृत मे भी ऐसे मुक्तक रचनाओं का आधार रहा और जिसका अनुसरण जयदेव और विद्यापति ने भी किया था, उसी का अनुसरण सूरदासजी ने भी किया। इस रीतिकाल के कवि भी प्रेम-शृङ्गार की इसी परम्परा मे देखे जा सकते है जो कृष्ण भक्तो के लिए हजारो वर्षों से मुक्ति का साधन रही है। इनकी रचनाओ मे, इसमे सन्देह नही कि सूरदास की तल्लीनता और गम्भीर भक्ति भावना नही मिलती, किन्तु इसीलिए इन्हे मुग़ल दरबारो की विलासित अथवा जहाँगीर के उन्मत्त प्रेम-विलास से प्रभावित नही कहा जा सकता। 'गाथा सप्तशती' और सस्कृत के अन्य रीतिग्रन्थ जो उस समय बने थे जब अभी मुसलमानो की सत्ता इस देश मे नही आई थी, उनमे भी तो प्रेम-शृङ्गार उसी तरह का है जैसा कि इस रीतिकाल के कवियो का है। इस दशा मे अधिक संगत बात तो यह है कि चिन्तामणि, विहारी, देव, और अन्य सभी रीतिकालीन कवि भारतीय साहित्य की उस परम्परा की उपज है जो श्रीमद्भागवत् के समय से गगा की धार की तरह बहती आई है। गंगा का जल, गंगोत्री और उसके नीचे हरद्वार मे जितना शुद्ध है उतना प्रयाग और काशी मे नहीं

और वही जल ज्यों-ज्यों परब को बढ़ाता गया है दूसरी नदियों के सयोग मे बहुत कुछ गदला भी होता गया है ; किन्तु गंगोत्री से लेकर गंगासागर तक गंगा का जल तो सब कहीं है।

इस रीति-काव्य की पद्धति तो आचार्य केशवदास ने ही चलाई थी, किन्तु हिन्दी मे रीतिग्रन्थों की अटूट परम्परा केशव की 'कवि-प्रिया' के प्रायः आधी सदी बाद चल निकला, जिसका आदर्श केशव का अलंकार-चमत्कार नही, बल्कि रसानुभूति थी। इसमे भी संस्कृत की प्रणाली ही देखी जा सकती है। केशवदास के समय तक सस्कृत काव्य में 'रसानुभूति' का सिद्धान्त, आनन्द-वर्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने प्रतिष्ठित कर दिया था। विभिन्न रसो की स्वाभाविक योजना काव्य का सब मे प्रधान गुण माना जाने लगा था, किन्तु इस सर्वमान्य सिद्धान्त अलंकार चातुरी पर जोर दिया, जिसे संस्कृत के पूर्ववर्ती भामह, उद्भट आदि आदि आचार्यों ने माना था। इसका मतलब यह है कि संस्कृत काव्याङ्गो का निरूपण जिस विकास क्रम के अनुसार हुआ था, हिन्दी में भी ठीक-ठीक वही दुहराया गया।

रीतिग्रन्थों की यह परम्परा इस काल मे चिन्तामणि त्रिपाठी ने चलाई। इस परम्परा में अलंकार-चमत्कार की जगह रसानुभूति पर अधिक ध्यान दिया गया है। त्रिपाठी चिन्तामणि ने 'काव्य विवेक', 'कविकल्पतरु' और 'काव्य प्रकाश' इन तीन पुस्तकों मे काव्यांगो का निरूपण किया। छन्द, अलंकार, रस, इन सब का लक्षण और उदाहरण देकर इन्होंने मम्मट और विश्वनाथ के रस सिद्धान्त की पुष्टि की और इनके बाद के सभी रीति-कार कवियों ने इसी पद्धति का अनुसरण किया। पहले दोहे मे रस या अलंकार का लक्षण लिखकर,

कवित्त या सवैया में उसका उदाहरण देना इस युग का प्रधान कवि-कर्म रहा।

हिन्दी साहित्य में यहाँ सस्कृत के प्रतिकूल स्थिति पैदा हुई। संस्कृत साहित्य मे कवि और काव्यांग निरूपण करने वाले आचार्य, दो भिन्न श्रेणियो के थे किन्तु हिन्दी मे कवि और आचार्य का भेद मिट गया। 'मम्मट' और विश्वनाथ सस्कृत मे आचार्य है उन्हें कवियो मे स्थान नहीं मिला, किन्तु, रीतिकाल मे हिन्दो मे कवि और आचाय एक ही व्यक्ति होने लगे। आचार्यत्व के लिए जिस वैज्ञानिक और सूक्ष्म विवेचन की शक्ति अपेक्षित है उसका विकास न हो सका। काव्य अनुभूति और तक-चिन्तन का मेल जो रीतिकाल मे हुआ अस्वाभाविक होते हुए भी विस्मय जनक है।

रीतिकालीन अधिक रचनाये अवध मे हुई इस कारण कवियो की भाषा व्रज मे अवधी के प्रयोग अधिक आते गये। दास कवि ने 'काव्य निर्णय' में इस मिश्रित भाषा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। भावो और भाषा क इन शिल्पियो ने जो स्वभाव स तो कवि थे, किन्तु कर्म से जिन्होने आचार्य बनने का प्रयत्न किया, प्रेम और शृंगार के भावो के वर्णन मे विशेष निपुणता दिखाई है। इनका आचार्यत्व तो संदिग्ध है—लक्षणा के निरूपण मे उनकी भूलें देखी जाती है, किन्तु उनकी कविताएँ अतिमधुर और हृदय स्पर्श करने वाली हुई है, केवल उसी के बल पर हिन्दी-साहित्य मे उनका विशेष स्थान रहेगा। बुद्धि-विलास इनका गुण था। नायिका भेद, नखशिख वर्णन, ऋतु वर्णन मे भी नायक-नायिका के भाव, विभाव इन कवियो ने संस्कृत साहित्य से ही लिया था। इसलिए इनकी रचनाये संस्कृत साहित्य के विकास क्रम के अनुसार हुई है, न कि मुगलो के समय की विलासिता के कारण।

इस रीतिकाल मे बिहारी, देव, मतिराम, चिन्तामणि, यशवन्तसिंह, श्रीपति, भिखारीदास, रघुनाथ, दूलह, बेनीप्रवीन और पद्माकर मुख्य है। उन कवियों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे कवि इस काल मे हुए जिन्होंने शृंगार रस मे, लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया। इन कवियों ने व्रज भाषा को और भी प्रौढ़ और प्राञ्जल किया। इसी काल के घनानन्द, रसखानि, आलम, ठाकुर और बोधा भी है, जिनमे प्रेम की मर्मस्पर्शिनी पीड़ा देखी जा सकती है।

इस काल के प्रबन्ध काव्य ब्रजविलास, नैषध चरित, महाभारत, हम्मीर हठ और रामरसायन है, जिन्हे अधिक सफलता न मिली और ये अब केवल साहित्य के इतिहास की ही वस्तुयें हो चुके है। वृन्द, गिरधरदास, घाघ और बैताल इस काल के नीति सूक्तिकार कवि है।

शाहजहाँ को कैद कर और दाराशिकोह का बधकर जब औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर बैठा, सारे देश मे उसके प्रति असन्तोष और अविश्वास की लहर फैल गई। पिता को कैद कर और भाई का बधकर, सिंहासन प्राप्त करना भारतीय जनता के लिए अनहोनी-सी घटना हुई। इस देश के जलवायु मे कभी ऐसी नृशंसता की कल्पना भी नहीं थी। जनता ने कभी सुना भी नहीं था कि कभी भी किसी राजा ने पिता को कैद कर और भाई का बधकर राज्य प्राप्त किया हो। जनता के हृदय मे तो दशरथ, राम और भरत का आदर्श प्रतिष्ठित था। औरंगजेब की राजनीति, अकबर और जहाँगीर की तरह उदार न थी। उसकी धार्मिक कट्टरता के कारण सारे देश मे असन्तोष और क्षोभ का वातावरण पैदा हो गया। पंजाब, बुन्देलखंड, राजपूताना और महाराष्ट्र मे हिन्दू शक्ति ने करवट लिया। गुरु गोविंद सिंह, छत्रसाल और महाराष्ट्र केशरी शिवाजी ने धर्मान्ध औरंगजेब के विरुद्ध,

स्वतन्त्रता का झण्डा फहरा दिया। हिन्दू-जनता ने इन वीरों को धर्म और जाति का रक्षक मानकर श्रद्धा से इनके सामने सिर झुका दिया। पुनरुद्धार और पुनर्जागरण का उत्साह सारे देश में व्याप्त हो उठा। तत्कालीन हिन्दी कवि भी अपने कर्त्तव्य में पीछे न रहे। इन वीरों को कवियों की वीर-वाणी का योग मिला। भूषण, लाल, सूदन, गुरु गोविन्दसिंह की वीरवाणी देश के कोने-कोने में गूँज उठी। शिवाजी के प्रत्यक्ष दर्शन का अवसर जिन्हें नहीं मिला था, भूषण की कविता में उन्हें उनका वीर-रूप दिखाई पड़ा। जनता इन कवियों की कविताओं को गाकर अतीत के गौरव का सुख लेने लगी। वीर-रस के इन कवियों ने भी वीर-रस में ही लक्षण ग्रन्थ का निर्माण किया। इसलिए वीर-रस प्रधान होते हुए भी ये रीतिकाल में ही माने जाते हैं। यह रीति काल सम्वत् १६०० तक पूरे दो सौ वर्षों का माना गया है।

आधुनिक काल

औरंगज़ेब के जीवन में ही देश में सर्वत्र विद्रोह की आग जल चुकी थी। दक्षिण में शिवाजी की मराठा शक्ति को वह दबा नहीं सका। पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह के वीर सिक्खों ने उसकी शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसकी मृत्यु के बाद मुग़ल साम्राज्य के खण्ड-खण्ड हो गये। इसी समय में अँग्रेज़ी प्रभुता का उत्कर्ष दक्षिण और बंगाल में हो रहा था। देशी शक्तियों में निरन्तर के संघर्ष और देश की आन्तरिक सामाजिक जीवन की अशान्ति का लाभ उठाकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में पंजाब छोड़कर प्रायः सारे उत्तर भारत में अँग्रेज़ों की शक्ति दृढ़ हो चुकी थी।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद इस देश की हुकूमत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकल कर इङ्गलैण्ड की साम्राज्ञी

विक्टोरिया के हाथ मे चली गई। विक्टोरिया की घोषणाओं मे देश की उन्नति, शिक्षा और न्याय की बाते भी कही गई थीं। विलियम बैन्टिक ने सती प्रथा बन्द की और ठगी तथा अराजकता का भी दमन कर देश मे शान्ति और सुरक्षित सामाजिक जीवन के विकास का अवसर प्रदान किया। मेकाले ने पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा अँग्रेजी के माध्यम से देने की योजना बनाई और उसे कार्यान्वित भी किया।

पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के साथ पश्चिमी विज्ञान का प्रवेश भी शिक्षा केन्द्रो मे हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण पश्चिमी देशो की जो भौतिक और बौद्धिक उन्नति हुई थी उसका प्रभाव पडना स्वाभाविक था। उस प्रभाव के कारण देश के विचारको के दृष्टिकोण और विचार भी बदले। प्राचीनता की रक्षा मे ही देश का गौरव नही देखा गया, उसके लिये नवीनता का भी स्वागत हुआ। इस नये युग का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। साहित्य केवल मुक्ति और मनोरञ्जन का साधन न रहा। उसे समाज और देश की सामाजिक, राजनीतिक और अन्य समस्याओं का समाधान भी देना था। पद्य या कविता मे यह सब देना सम्भव नही था। इसलिए इस नव जागरण के काल मे गद्य का प्रचार और विकास हुआ। उपयोगी विषयो पर निबंध और छोटी पुस्तिकाये लिखी जाने लगी। मुद्रण यंत्र के आ जाने से समाचार पत्रों के रूप मे भी गद्य का प्रचार हुआ। अन्य सभ्य देशों की तरह गद्य की उन्नति अबोध गति से होनी गई और इस आधुनिक काल को गद्य काल कहा गया।

गद्य की इस उन्नति मे कविता के क्षेत्र मे भी परिवर्तन हुए। उसका रूप और उद्देश्य दोनो ही बहुत कुछ देश और समाज की आवश्यकताओ के अनुसार बन चले। अँग्रेजी के माध्यम से विदेशों के साहित्य के नये प्रयोग और नई धाराओं का भी प्रभाव

हमारे साहित्य पर पड़ा। गद्य की भाषा हिंदी की अन्य उप-भाषाओं में खड़ी बोली निश्चित की गई। ऐतिहासिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विषयों के अनुकूल इस भाषा की बनावट मानी गई और फोर्ट विलियम, कलकत्ता) से लेकर दिल्ली और लाहौर तक इसका एक ही रूप मान्य हुआ। स्वामी दयानन्द और उनके आर्यसमाज से इस भाषा को सब से अधिक बल और गौरव प्राप्त हुआ।

गद्य की भाषा खड़ी बोली मान ली गई, किन्तु अभी पद्य में रचनायें अधिकतर ब्रज भाषा में ही होती रही। राजा लक्ष्मण-सिंह, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी, श्रीधर पाठक, रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' की कवितायें ब्रज भाषा में ही हुईं। भार-तेंदु के नाटकों की भाषा तो बहुत कुछ पूर्वी हिन्दी के शब्दों के मेल से खड़ी बोली है किन्तु उन्हीं नाटकों में उन्होंने जो पद्य दिए हैं उनमें तो उन्होंने विशुद्ध ब्रज रखने की ही चेष्टा की है। किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक न चल सकी। गद्य की भाषा कुछ हो और पद्य की कुछ, यह स्थिति अस्वाभाविक और अवैज्ञा-निक थी। साहित्यकारों को यह बात खटकने लगी और इस बात का प्रयत्न हुआ कि गद्य और पद्य दोनों ही की भाषा एक हो।

गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का श्रेय सबसे अधिक स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी को है। 'सरस्वती' के सम्पादक के पद से इन्होंने इसके लिए प्रभावशाली आन्दोलन किया। उन्हें हम खड़ी बोली की कविता के आदि आचार्य कह सकते हैं। 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने खड़ी बोली के गद्य का परिमार्जन और संस्कार तो किया ही, खड़ी बोली के कवियों का भी पथ प्रदर्शन किया। कितने ही नवयुवक कवि उनके आशीर्वाद के लिए उनके समीप आये और अन्त में यशस्वी और महाकवि भी बने। द्विवेदी मण्डल के प्रमुख कवियों में बाबू मैथिलीशरण गुप्त, प०

रामचरित उपाध्याय, पं० कामताप्रसाद गुरु, पं० लोचनप्रसाद पाडेय और पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही अधिक प्रसिद्ध हैं। द्विवेदी मण्डल के बाहर भी कवियो ने युगवाणी का संकेत समझ कर खड़ी बोली में रचनाये की। इनमे प्रमुख कवि पं० अयोध्या-सिह उपाध्याय, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० रामनरेश त्रिपाठी, बाबू जयशंकर प्रसाद, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, अनूप शर्मा और गोपालशरणसिह हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि खड़ी बोली की कविता को इस प्रगति में ब्रज भाषा मे कविता रचना एकदम बन्द हो गई। इस काल मे जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, श्री वियोगी हरि आदि ब्रज भाषा के नामी कवि हुए। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की ब्रज कविता ने ब्रज भाषा के काव्य गौरव को खड़ी बोली के इस उत्कृष्ट युग मे भी प्रतिष्ठित किया।

अँग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्व-व्यापी काव्य यश ने हिन्दी के नवयुवक कवियो को रहस्यवाद या छायावाद की ओर प्रेरित किया। भाव और भाषा की कोमलता, अन्तर्वृत्तियो का सूक्ष्म चित्रण इस छायावाद युग की विशेषताये हैं। उमर खय्याम के फिटज़रल्ड द्वारा अँग्रेज़ी अनुवाद से भी इस पद्धति को बल मिला। श्री सुमित्रानन्दन पन्त इस पद्धति के सर्वश्रेष्ठ कवि है। निराला की कविताओ मे वेदान्तो का पुट मिलता है।

यो तो इस पद्धति के कवि 'प्रसाद' का रचना काल पन्त से पहले है, किन्तु पन्त के आविर्भाव के पहले 'प्रसाद' की रचनायें पुरानी परिपाटी की ही हुआ करती थी। रहस्यवाद की रचनाये जो कुछ 'प्रसाद' की है वे पन्त की रचनाओ से पीछे आई है। इसलिए आधुनिक साहित्य मे रहस्य-प्रवर्तक पन्त ही माने जायेगे।

प्रकृति के साथ पन्त जी ने जिस सजीव प्रेम का नाता जोड़ा है वह इस पद्धति के किसी अन्य कवि से न हो सका। अपनी व्यापक सहानुभूति में पन्त ने प्रकृति को व्यक्तित्व प्रदान किया है। पहाड़ी स्थान में रहने स इनका मन प्रकृति के विभिन्न मनोरम रूपों और रंगो से भर गया है। हिमालय के निचले भाग मे सूर्योदय सूर्यास्त, बादल के चित्र-विचित्र रग अपनी सारी कोमलता और मधुरता के साथ इनकी रचनाओ में रम रहे है। मनोवेगों और प्राकृतिक रहस्यों को भाव और भाषा के वस्त्र और अलंकारो से सुसज्जित कर इन्होने मूर्त रूप दे दिया है। अँग्रेजी गीतिशैली को तो इन्होंने अपनाया ही अँग्रेजी छन्दों को भी ये हिन्दी मे उतार लाये। कला पक्ष पर अधिक झुके रहने के कारण इन्होने शब्द-सौन्दर्य और चित्र-सौन्दर्य के सहारे हिन्दी कविता मे भाव और रूप सौन्दर्य की नई परिपाटी चला दी जिसके अनुकरण से, 'प्रसाद' भी नही बच सके। अँग्रेजी साहित्य से प्रभावित रहने पर भी इनकी रचनाये जातीय सस्कृत के प्रतिकूल नही पडती। ताजमहल को इन्होंने मृत्यु की उपासना कहकर शाहजहाँ के उस अज्ञान की ओर संकेत किया है जिसमें जीवन के ऊपर मृत्यु की जीत हुई है।

'पल्लव', 'वीणा', 'गुञ्जन' और 'ग्रन्थि' के बाद पन्त जी 'ग्राम्या' लेकर गान्धीवाद और आगे बढ़कर मार्क्सवाद के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। साम्यवाद को विचारधारा इधर पन्त मे बढ़ रही है किन्तु वह 'साम्यवाद भी सर्व भूत रत:' का भारतीय आदर्श है। रूस की अन्ध भक्ति नही।

इस छायावाद युग के दूसरे कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हैं। इनका अधिक समय बंगाल मे बीता था। इनकी शिक्षा-दीक्षा बगाल में हुई। विवेकानन्द के वैष्णव शिष्यों का प्रभाव इन पर पड़ा और कविता की ओर इनकी रुचि कवीन्द्र और

अन्य बंगाली कवियों की रचनाओं से हुई। संगीत को काव्य के निकट लाकर इन्होंने वही काम किया जो उस समय के बंगाली कवियों ने अँग्रेजी के अनुकरण पर बँगला में किया था। 'निराला' जी न तो छन्द का बन्धन अपनी कविता में स्वीकार करते हैं और न समाज का बन्धन अपने जीवन में।

वेदान्त की छाप इनकी कविताओं में जगह-जगह मिल जाती है। मधुरता और सौन्दर्यानुभूति इनकी भी छायावाद के अन्य कवियों की तरह भावना प्रधान है। इधर 'निराला' जी भी प्रगतिवाद के नाम पर मार्क्सवाद की ओर झुक रहे हैं। इनकी यह प्रगति बहुत अंश में आधुनिक रूस के रँग में रँगी है।

छायावाद के अन्य सभी कवियों में कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा सब ओर से रहस्य के भीतर रही हैं। लोक पक्ष की चिन्ता न कर, समाज की सर्वमान्य रूढ़ियों की ओर से भी मुँह फेर कर, ये अपने अज्ञात प्रीतम के विरह में तन्मय सी हो रही हैं। वेदना इनके हृदय की भावनाओं का केन्द्र है। वेदना जैसे इनकी प्रकृति का एकमात्र सत्य है और उससे निकली हुई अनुभूति को ये छोड़ना नहीं चाहती।

'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ'। इस तरह प्रियतम के विरह में घुल-घुल कर बूँद-बूँद होकर टपकने में जो सुख, जो अनुभूति इन्हें मिलती है उसके लिये इन्होंने मिलन का नाम सुनना भी छोड़ दिया है। इनकी सरस, कोमल और भावमयी पदावली पाठक के हृदय में टीस पैदा किये बिना नहीं रहती। ये स्वयं भी पीड़ा में अपने प्रियतम को खोजती हैं और प्रियतम में खोजती हैं पीड़ा को। यह पीड़ा मनुष्य की स्थिति के लिए चाहे वह नारी ही क्यों न हो, कहाँ तक मनोवैज्ञानिक और यथार्थ है यह बात ही दूसरी है। श्रीमती महादेवी वर्मा की यह वेदना केवल प्रियतम के वियोग के कारण

नहीं बहुत अंशों मे तो जो ये उस प्रियतम से रूठ कर मान कर बैठी है, उसके कारण है। इसलिए राधिका या मीरा की तरह ये अपना उत्सर्ग कर अपने को मिटा देना नही चाहती। प्रियतम के प्रति आत्म-समर्पण का भाव इनकी रचनाओं मे नहीं है। अपने कभी न टूटने वाले मान से यह अपने प्रियतम को प्रताडित करना चाहती है और कदाचित इस प्रकार चिरन्तन नारीत्व के आधुनिक आदर्श की प्रतिष्ठा करती है। इनके 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' और 'साध्यगीत' का सुन्दर 'संग्रह' 'यामा' के नाम से निकल चुका है।

इस छायावाद काल के अन्य प्रसिद्ध कवि सर्व श्री रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', नरेन्द्र, 'बच्चन' रामेश्वर शुक्ल अंचल और आरसीप्रसादसिंह हैं। इन कवियों की रुचि अब छायावाद से हटकर प्रगतिवाद की ओर जा रही है। 'प्रेम संगीत' के भगवतीचरण अब 'भैंसा गाड़ी' लिखने लगे है। 'अञ्चल' भी नारी से प्रेम नहीं, अग्नि माँग रहे हैं। प्रगतिवाद के नाम पर इन नये कवियों का साम्यवादी प्रयोग चल रहा है।

इस युग के कवियों ने भाषा और भाव का संस्कार तो किया ही, अँग्रेजी और बंगला के छन्दों का भी इन्होंने खुल कर प्रयोग किया। गीति काव्य, जिसका उद्गम बहुत अंशों मे अंग्रेजी का lyric है हिन्दी के इन कवियों ने अधिक मात्रा में लिखा है। समष्टि के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित करने मे इस युग के कुछ कवियों को सफलता मिली है, किन्तु इस पद्धति के अधिकांश कवि अपने काव्य मे अपनी अतृप्त लालसाओं और विलास-मूलक प्रवृत्तियों को कविताओं मे, निराशा और वेदना के साथ ही साथ उपभोगवाद [Hedonism] की भी झलक देख पड़ती है। सम्भव है अवस्था और अनुभव के बढ़ने पर

इनका विवेक भी बढ़े और ये आशक्तिमूलक रचनाओं की जगह अनाशक्त कवि-कर्म का महत्त्व समझे।

श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' से राष्ट्रीय भावना को जो बल मिला था वह श्री माखनलाल चतुर्वेदी, 'दिनकर' 'नैपाली', 'नवीन' और मोहनलाल द्विवेदी की राष्ट्रीय कविताओ से और भी आगे बढ़ रहा है। देश मे राष्ट्रीय जागृति के साथ ही हिन्दी काव्य मे भी राष्ट्रीयता के भाव आने लगे और इस समय हमारी भाषा मे उच्च कोटि के कई राष्ट्रीय कवि है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान अपनी राष्ट्रीयवाणी के कारण प्रसिद्ध हो चुकी है। इनकी रचनायें आज और बलिदान के आदर्श से परिपूर्ण है। श्रीगुरुभक्तिसिंह, पं० श्यामनारायण पाण्डेय, पं० अनूप शर्मा, रामनाथ ज्योतिषी और हरदयालुसिंह ने प्रबन्ध काव्यो की रचना की है।

रूसी साम्यवादी साहित्य और मार्क्सवाद का प्रभाव भी हमारे साहित्यकारो और कवियो पर पूरा पड़ चुका है। छायावाद का युग अब बीत रहा है और उसकी जगह पर आ रहा है प्रगतिवाद। प्रगतिवादी साहित्य और प्रगतिवादी साहित्यकार की चर्चा आये दिन बराबर हो रही है। समाज सदैव से अपने राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मे परिवर्तित होता आता है। परिवर्तन सृष्टि का नियम है। इस विचार से यहाँ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इस प्रगतिवाद का क्या रूप इस देश मे होगा जनता जनार्दन की सेवा शब्दो और वाक्यो से पूरी न होगी, उसके लिये हमारे प्रगतिवादी साहित्यकारो को कम करने होगे। सरल, त्याग और तपस्यापूर्ण जीवन यदि इस कोटि के साहित्यकार अपनायें तो सम्भव है वे इस देश की जनता की कुछ सेवा कर सकें और यदि उनकी वेश-भूषा, आहार-विहार सामन्तशाही युग के नमूने हो तो उनकी रचनाओ से समाज का अधिक

कल्याण न होगा । आँख मूँद कर रूस का अनुकरण करना इस देश की प्राचीन संस्कृति, धर्म और लोक भावना के प्रतिकूल पड़ेगा, इसमे सन्देह नही । मार्क्सवाद को प्राचीन संस्कृति के इस देश मे नये पाठ पढ़ने होगे, यहाँ उसका रूप ही दूसरा होगा ।

हिन्दी साहित्य मे इन दिनो जो चतुर्दिक विकास हो रहा है वह हमारी नई जागृति का सूचक है । हम अपने साहित्य और भविष्य के सम्बन्ध में आशावादी है । यदि हमारे तरुण लेखको और कवियो ने भावावेश और अतिरञ्जित कल्पना की जगह स्वाभाविक विवेक और जीवन की अनुभूति का सहारा लिया तो निसन्देह वे स्थायी साहित्य की रचना करेंगे ।

—लक्ष्मीनारायण मिश्र

विजय-रथ

सुनहु सखा कह कृपानिधाना ।
जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका ।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल बिबेक दम परहित घोरे ।
छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना ।
बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा ।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना ।
सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा ।
एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें ।
जीतन सकहिं कतहुँ रिपु ताकें ॥

दो०—महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर ।
जाकें अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर ॥

(रामचरित मानस)

कबीर

इनके जन्म के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित है। इन किंवदन्तियों की भौतिक सत्यता तो नही सिद्ध की जा सकती, किन्तु कबीर एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे, उनकी शिष्य परम्परा के लिए, उनकी अलौलिक क्षमता के प्रदर्शन में उनके जीवन के साथ रहस्यों का जोड़ देना स्वाभाविक था। इनका जन्म संवत् १४५६ वि० की जेठ सुदी पूर्णिमा-सोमवार को काशी मे हुआ था। कहा जाता है कि वे किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुए थे, जिसने जन्म काल मे ही लोकापवाद के भय से उन्हे काशी मे लहरतारा के ताल के पास फेक दिया। नीरू नामक जुलाहा इन्हें उठा लाया और उसकी नीमा नामवाली स्त्री ने इनका पालन-पोषण किया। यह जुलाहा-परिवार निर्धन था इसलिए कबीर को व्यवस्थित रूप से विद्याध्ययन का अवसर नही मिला। कहा जाता है कि लड़कपन में ही हिन्दू भक्ति—धारा की ओर इनका झुकाव हो गया जिसे इनके पालने वाले माता-पिता न रोक सके। राम नाम के जप के साथ-ही-साथ कभी-कभी ललाट पर यह तिलक भी लगा लिया करते थे। स्वामी रामानन्द का प्रभाव जनता मे बढ़ रहा था और जनता उससे तृप्त हो रही थी। कबीरदास पर भी रामानन्द का प्रभाव पड़े बिना न रहा और उनके मन मे रामानन्द से दीक्षा लेने की प्रवृत्ति उठी। किवदन्ती है कि काशी मे गंगा के किनारे जिस घाट से होकर रामानन्दजी ब्रह्म-मुहूर्त मे स्नान के लिए उतरा

करते थे अभी रात रहते ही कबीरदास सीढ़ियों पर लेट गए रामानन्द स्नान के लिए उतर रहे थे, अन्धकार में उनका पै कबीर की देह पर जा पड़ा। रामानन्दजी के मुँह से निकल पड़ "राम-राम कह।" कबीर के लिए बस यही इनका गुरुमन्त्र बन गया और उन्होंने अपने को रामानन्दजी का शिष्य घोषित किया। कबीर का अधिकांश समय साधुओं की संगति में बीतने लगा। इस सत्संगति का फल यह हुआ कि सुव्यवस्थित शिक्षा के अभाव में इनका सांसारिक अनुभव और ज्ञान बहुत बढ़ गया। जीविका के लिए इन्हें जुलाहे का काम—कपड़ा बुनना—भी करना पड़ता था। इनके स्त्री-पुत्र भी थे किन्तु गृही का जीवन बिताते हुए भी ये पूरे साधु थे, थोड़ा त्यागी, निस्पृह और आडम्बर हीन इनका जीवन था।

इनका सम्प्रदाय कबीर-पन्थ के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके मानने वाले मुसलमान भी हैं। इन मुसलमान शिष्यों के मत में कबीर ने प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर शेख तकी से दीक्षा भी ली थी किन्तु कबीर के अपने ही शब्दों में यह बात सिद्ध नहीं होती :—

"घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम सेख" इन शब्दों में तो कबीर ही तकी को उपदेश देते मालूम पड़ते हैं। कबीर ने दूर-दूर तक भ्रमण किया था और अपनी यात्रा में बहुतेरे हिन्दू साधुओं और मुसलमान फ़कीरों के सत्संग में भी ये आये थे। केवल रामानन्दजी को छोड़कर, कबीरदास और सब किसी के सत्संग में स्वयं उपदेशक के आसन पर बैठ जाते हैं।

रामानुज की शिष्य परम्परा में रामानन्द भी थे, किन्तु इन्होंने भक्ति के एक बिल्कुल नये मार्ग का ही अनुसरण किया था। वह मार्ग अपने विधान में उदार था, जाति-पाँति का भेद-भाव और आहार विहार का आचार उसमें न था। कबीर की धार्मिक उदारता बहुत अंशों में रामानन्द से मिली थी। इनका

मृत्यु-काल संवत् १५७५ माना जाता है जिसके अनुसार इनकी आयु १२० वर्ष की सिद्ध होती है।

धार्मिक-भावना—राम नाम की महिमा कबीर को रामानन्द से मिली किन्तु कबीर के राम, रामानन्द के राम, से अलग हो गये। राम को उन्होंने निर्गुण ब्रह्म बना दिया :—

"दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥"

तात्पर्य यह कि इन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफिया के भावना प्रधान रहस्यवाद का सम्बन्ध स्थापित किया और हठयोगियो की योगविधि और वैष्णव भक्तों की भूतदया का सम्मिश्रण कर अपना पंथ चलाया। कबीर का ज्ञानवाद बहुत अंशो में हिन्दू शास्त्रो की बातों पर निर्भर है जो उन्हे रामानन्द और दूसरे साधुओ की संगति मे मिली थी। ब्रह्म, जीव, माया, अष्ट-मैथुन, षट-रितु आदि हिन्दू शास्त्रो के तत्व, तीक्ष्ण बुद्धि कबीरदास को नित्य के सत्सग से ही मिले थे। अन्यथा उन्होंने ही कहा है :—

"मसि कागद छूओ नही कलम धरयो नहि हाथ।"

रूढ़िवादी पण्डितो और मुल्लों की कबीरदास ने खुलकर आलोचना की है। राम और रहीम को एक मानकर उन्होने धार्मिक समन्वय का मार्ग ग्रहण किया है। सदाचार और बुद्धि-वाद इनके इस धार्मिक समन्वय के दो स्तम्भ हैं।

"दिन भर रोजा रहत है, रात हनत है गाय।
यह तो खून वह बंदगी कैसे खुसी खुदाय।"

करुणामय भगवान् की उपासना मे जीव-हिसा कबीर की बुद्धि के लिए असह्य है।

भाषा और शैली—कबीर की शिक्षा तो कुछ नही थी किन्तु इनकी बुद्धि प्रखर थी। इस कारण इनकी बातें चमत्कार-

पूर्ण, लक्ष्य पर सीधे पड़ने वाली, व्यंगात्मक होती थी। इनकी उक्तियों के विरोधी तत्व और उनकी असंगति अशिक्षित लोगों को विस्मित कर जादू-सा प्रभाव पैदा करती थी। कबीरदास के शिष्यों को यह विश्वास हो चुका था कि उन्हें ब्रह्म के दर्शन हो चुके है। इनकी भाषा परिमार्जित साहित्यिक नही है लेकिन इनकी उक्तियों का प्रभाव विलक्षण है। सदाचार और नीति के उपदेश इनकी "साखी" मे संगृहीत है जिसका छन्द दोहा है और जिसकी भाषा वैरागियों की मिश्रित भाषा राजस्थानी और पंजाबी मिली खड़ी बोली है। "रमैनी" और "सबद" के गेय पदों मे ब्रजभाषा और पूर्वी बोली का व्यवहार है। इनकी कविता मे, छन्द अलङ्कार, व्याकरण आदि नियमों का निर्वाह नही हुआ है। इसलिए इनकी बहुत-सी उक्तियाँ काव्यगुणों से सम्पन्न नही मानी जाती। कबीर को प्रकृत, कवि-हृदय नही मिला था इस कारण न तो वे भावों का मनोरम प्रदर्शन कर सकते हैं और न उनकी भाषा मे काव्य-रस का सन्निवेश हो पाया है। किन्तु इतना होते हुए भी यह तो मानना ही होगा कि भावों के व्यक्त करने की उनकी आडम्बर-हीन पद्धति हिन्दी-मे बेजोड़ है।

कबीर के ६१ ग्रन्थों की सूची मिलती है जो विवादास्पद है। इनकी मुख्य और प्राप्त रचनाओं का संग्रह बीजक नाम से प्रसिद्ध है, जिसके तीन भाग किये गये है, रमैनी, सबद और साखी। इसमे वेदान्त तत्व, हिन्दू-मुसलमानों की भर्त्सना, संसार की नश्वरता, मानवी-शुद्धि, प्रेममार्ग की कठिनता, मायावी लीला, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा और अन्य धार्मिक रूढ़ियों की निन्दा इत्यादि अनेक प्रसंग है।

साखी

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहुभार।
कहौ संतौ क्यो पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार ॥ १ ॥
पानी केरा बुदबुदा, ऐसी हमारी जात।
एक दिना छिप जायँगे, ज्यो तारे परभात ॥ २ ॥
जो पहिरा सो फटि गे, नाम धरा सो जाई।
कबीर सोई तत्त गहु, जो गुरु दिया बताई ॥ ३ ॥
यह ऐसा संसार है, जैसा सेमर फूल।
दिन दस के व्यवहार कौं, झूठै रंग न भूल ॥ ४ ॥
हाड़ जलै ज्यौ लाकड़ी, केस जले ज्यौ घास।
सब तन जलता देखि करि, भयो कबीर उदास ॥ ५ ॥
ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जो करनी ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरा भरा, साधू निंदै सोइ ॥ ६ ॥
जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ।
रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटै कोइ ॥ ७ ॥
'कबीर' कहा गरबियौ, देहि देखि सुरंग।
बीछड़िया मिलिबौ नहीं, ज्यो काँचुली भुवंग ॥ ८ ॥
कासी काठै घर करै, पीवै निर्मल नीर।
मुकति नहीं हरि नाँव बिन, यौ कहै दास कबीर ॥ ९ ॥
कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूँढ़ै बन माँहि।
ऐसे घटि घटि राम है, दुनिया देखै नाहि ॥१०॥
कबीर यह जग कछु नहीं, खिन खारा खिन मीठ।
काल्ह जो बैठा मण्डपै, आज मसानै दीठ ॥११॥

जहाँ जरा मरन ब्यापै नही, मुवा न सुनिये कोइ ।
चलु कबीर तिहि देसड़ै, बैद विधाता होई ॥१३॥
'कबीर' मारग अगम है, सब मुनि बैठे थाकि ।
तहाँ कबीर चलि गया, गहि सतगुरु की साखि ॥१४॥
तन को जोगी सब करै, मन को बिरला कोई ।
सब विधि सहजै पाइये, जे मन जोगी होई ॥१५॥
केसन कहा बिगाड़िया, जे मूँडा सौ बार ।
मन को काहे न मूँड़िये, जामै विषे बिकार ॥१६॥
माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवे पडंत ।
कहै 'कबीर' गुर-ग्यान तें, एक आध उबरंत ॥१७॥
'कबीर जगकाजल की कोठरी, अंध परे तेहि माँहि ।
हम बलिहारी तिन्ह कऊ, पैसि जो निकसिहि नाहि ॥१८॥
चन्दन की कुटकी भली, नाँ बबूर अँबराऊ ।
वैस्नो की छपरी भली, ना साकत बढ़गाऊँ ॥१९॥
मै मता मन माहिरे, नान्हाँ करि करि पीस ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रम्ह झलक्कै सीस ॥२०॥
पहली बुरी कमाइ करि, बाँधि विषय की पोट ।
कोटि करम फल पलक मे, (जब) आया हरि की ओट ॥२१॥
रोजा करि जिबहै करै, कहते है ज हलाल ।
जब दफ्तर देखैगा दई, ह्वैगा कौन हवाल ॥२२॥
दिन भर रोजा रहत है, राति हनत है गाय ।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय ॥२३॥
मूरख संग न कीजै, लोहा जल न तिराइ ।
कदली सीप भवँग मुख, एक बूँद. तिहुँ भाइ ॥२४॥
कबीर चन्दन सा बिरवा, भला बेढ़िओ ढाक पलास ।
शाक भी चंदन होइ रहे, बसे जु चन्दन पास ॥२५॥

कबीर समुँद न छोड़िये, जउ अति खारो होइ ।
पोखरि पोखरि ढूँढते, भलो न कहि है कोइ ॥२६॥
कबीर गागर जल भरी, आजु कालि्ह जे फूटि ।
गुरु जु न चेतहि आपनो, अध माझहिगे लूटि ॥२७॥
कबीर चकई जउ निसि बीछुरै आइ मिलै परभाति ।
जो नर बिछुरे राम सिउ, ना दिन मिले न राति ॥२८॥

बिनय

हौ बलि कब देखौगी तोहि ।
अहनिस आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापी मोहि ॥
नैन हमारे तुमको चाहे, रती न मानै हारि ।
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै ऐसी लेहु बिचारि ॥
सुनहु हमारी दादि गोसाँई, अब जनि करहु अधीर ।
तुम धीरज मै आतुर, स्वामी, काँचे भाँड़ जु नीर ॥
बहु दीनन के बिछुरे माधौ, मन नहि बाँधै धीर ।
देह रहे तुम मिलहु कृपा करि आरति वंत कबीर ॥

रहस्यवाद

बहुत दिनन थै मै प्रीतम पाये ।
भाग बड़े घर बैठे आये ॥
मंगल चारि माँहि मन राखो ।
राम रसायन रसना चाखो ॥
मंदिर माँहि भया उजियारा ।
लै सूती अपना पीव पियारा ॥
मै रनि रासी जे निधि पाई ।
हमहि कहा बहु तुमहि बड़ाई ॥
कहै कबीर मैं कछु नहि कीन्हा ।
सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥

दुलहिन गावहु मंगल चार ।
हम घरि आये हो राजा रॉम भरतार ॥टेक॥
तन रत करि मै मन रत करिहूँ पंच तत्त बराती ।
राँमदेव मोरे पाहुँनै आये, मै जोबन मे मॉती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रम्हा बेद उचार ।
रॉमदेव सँग भॉवर लैहूँ, धँनि धँनि भाग हमार ॥
सूर तेतीस कौतिक आये मुनिवर सहस अठासी ।
कहैं कबीर हम व्याहि चले हैं पुरिष एक अबिनासी ॥

माया

रमैया की दुलहिन लूटा बजार ।
सुर पुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकर ।
ब्रह्मा लूटे, महादेव लूटे, नारदमुनि के परा पिछार ॥
स्रिगी की भिगी करि डारी मारु के उदर बिदार ।
कन फूँका चिद कासी लूटे, लूटे जोगेसर करत विचार ॥
हम तो बचिगे साहब दया से, शब्द डोरि गहि उतरे पार ।
कहत 'कबीर' सुनो भई साधो एहि ठगनी से रहु हुसियर ॥

मीठी मीठो मया तजी न जाई ।
अज्ञानी पुरिष कौ भोलि भोलि खाई ॥टेक॥
निरगुंण सगुंण नारी, संसारि पियारी ।
लषमणि त्यागी, गोरष निवारी ॥
कौडी कुंजरि मे रही समाई ।
तिनि लोक जीत्या माया किनहूँ न खाई ॥
कहै कबीर पद लेहु विचारी ।
संसारि आइ माया किनहूँ एक कहीं बारी ॥

स्फुट पद

कमर गति टारे नाहिं टरी ।
मुनि बसिष्ट से पंडित ग्याँनी सोधि के लगन धरी ।
सीता-हरन मरन दसरथ को बन मे बिपति परी ॥
कहँ वह फँद, कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरगचरी ।
सिया को हरि लैगा रावन, सुबरन लंक जरी ॥
नीच हाथ हरिचंद बिकाने, बलि पाताल चरी ।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग गिरगिट जोनि परी ॥
पांडव जिनके आपु सारथी, तिन पर बिपत परी ।
दुरजोधन को गरब धरायो, जदुकुल नास करी ॥
राहुकेतु औ भानु चन्द्रमा, बिधि संजोग परी ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, होनी होइ रही ॥

का माँगू कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चला जग जाई ।
इक लख पूत सवा लख नाती, ता रावन घर दिया न बाती ।
लंका सा कोट समंदर सी खाई, ता रावन की खबर न आई ॥
आवत संग न जात संगाती, कहा भयो दर बाँधे हाथी ।
कहै 'कबीर' अन्त की बारी, हाथ झारि के चले जुवारी ॥

लोग कहैं गोबर-धन धारी,
ताकौ मोहि अचंभौ भारी ॥टेक॥
अष्ट कुली पर्वत जाके पग की रैना ।
सातौं सागर अंजन नैना ॥
ऐ उपमां हरि किती एक ओपै,
अनेक मेरु नख ऊपरि रोपै ॥
धरनि अकास अधर जिन राखी,
ताकी मुगधा कहै न साखी ।
सिव विरंचि नारद जस गावैं,
कहै कबीर वाको पार न पावै ॥

महात्मा सूरदास

शृङ्गार और वात्सल्य के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास का जन्म संवत् १५४० के आस-पास मथुरा जानेवाली सड़क पर रुनकुता या रेणुका क्षेत्र गाँव मे हुआ था। कुछ विचारको ने दिल्ली के निकट सीही नामक स्थान को इनकी जन्मभूमि माना है। "चौरासी वैष्णवो की वार्ता" के आधार पर इनका आगरा के पास गऊघाट नामक स्थान पर रहना विदित है। 'भक्तमाल' और 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' के उपाख्यानो से प्रभावित होकर लोग इन्हे सारस्वत ब्राह्मण रामदास का पुत्र मानते है, किन्तु साहित्य लहरी के अन्तिम पद मे सूरदास ने स्वयं जो अपनी वंश परम्परा दी है उसके अनुसार तो यह प्रसिद्ध कवि चन्दबरदायी के वंशज ब्रह्मभट्ट है।

गोवर्धन पर श्रीनाथजी के मन्दिर निर्माण के बाद, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य गऊघाट पर उतरे। दर्शनार्थियो में महाकवि सूरदास भी थे जिन्होने महाप्रभु को अपना रचित एक पद भी सुनाया। उस पद से प्रभावित होकर श्रीवल्लभाचार्य ने इन्ह अपना शिष्य बनाया और श्रीमद्भागवत का अनुवाद भाषा पदो मे करने की आज्ञा दी। सूरदास का प्रभाव उन पर कुछ ऐसा मोहक पडा कि उन्होने इन्हें गऊघाट से खींचकर अपने विख्यात मन्दिर श्रीनाथ के कीर्तन मे प्रवृत्त किया। मन्दिर में कीर्तन करते हुए सूरदास ने श्रीवल्लभाचार्य के आदेश का पालन किया और श्रीमद्भागवत के आधार पर सूरसागर

की रचना की। सूरसागर के पदों की संख्या तो सवालाख कही जाती है, किन्तु उपलब्ध पद पाँच-छह हज़ार से आगे नहीं बढ़ते।

सूरदास के जीवन की सबसे बड़ी और सबसे विवादास्पद घटना उनके अन्धे होने की बात है। वे जन्मान्ध थे ऐसा भी कहा जाता है और यह भी मत है कि वे बाद को अन्धे हुए थे। सूरदास का प्रकृति वर्णन यहाँ तक कि विभिन्न रँगो के शब्द चित्र उन्हे जन्मान्ध नहीं रहने देते। सूरदास बिल्वमङ्गल वाली किवदन्ती का सम्बन्ध जो इनके साथ जोड़ा जाता है, असंगत है। श्रीकृष्ण की सख्य उपासना मे दीक्षित होने के बाद इन्होंने सूरसागर की रचना की। उस समय तक भी इनकी आँखें थी यह तो इनके पदो के वर्णित विषयो से ही सिद्ध है। संवत् १६२० मे परसौली गाँव मे इनका देहावसान हुआ। इनका सूरसागर जैसा कि लोगो का भ्रम है श्रीमद्भागवत का अविरल अनुवाद नही है। श्रीमद्भागवत इनकी कथा का आधारमात्र रह गया है, जिसे इन्होंने अपनी स्वतन्त्र भावना से निराले ढाँचे मे अलंकृत और सुसज्जित किया है। केवल श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को इन्होंने विस्तार के साथ गाया है। शेष स्कन्धो की कथा संक्षिप्त और इतिवृत्ति रूप में तारतम्य स्थापित करने के लिये दे दी गई है। सूरसागर मे कृष्ण-जन्म से आरम्भ कर मथुरा जाने तक की कथा रसमग्न कवि के अत्यन्त मनोहर पदो की धारा मे बहती गई है। सूरसागर ब्रजभाषा का सब से महान काव्य-ग्रन्थ है। बृजभाषा को प्रौढ़ साहित्यिक रूप देने का श्रेय एक मात्र सूर को है। रस का परिपाक और काव्य के शास्त्रीय गुणो का सन्निवेश सूरसागर मे जिस पूर्णता तक पहुँच चुका है उसके सामने रीतिकालीन आचार्यों की शृङ्गार और वात्सल्य की उक्तियाँ नीरस लगती है।

धार्मिक भावना—सूरदास कृष्ण भक्ति परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि है, जिसमे श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति के आधार पर प्रेम-तत्व की मार्मिक व्यंजना हुई है। इस परिपाटी का निर्वाह सूरसागर मे अलौकिक निष्ठा के साथ किया गया है।

श्रवणं कीर्तनम् विष्णोर्दर्शनम् पादसेवनम्।
अर्चनम् वन्दनम् दास्यम् सख्यमात्म् निवेदनम् ॥

श्रीनाथ के मन्दिर मे कीर्तन के प्रधान पद पर रहते हुए भी सूर की उपासना पद्धति इन नवधा भक्तियो मे सख्य है। सख्य परम्परा का भक्त सगुण ब्रह्म को प्रेमी या पति रूप मे स्वीकार करता है। इसीलिए सूर के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपियो के बीच मे रास रचते हुए प्रेमी कृष्ण है। लोक-व्यवस्था मे पारंगत द्वारकाधीश कृष्ण का परिचय सूरसागर मे नही मिलता। श्रीकृष्ण का परिचय सूरसागर म नहीं मिलता। श्रीकृष्ण के जिस रूप को लेकर भक्त-शिरोमणि सूरदास चले है वह तो प्रेम और विलास का समुद्र ह जिसकी लहरो मे भक्त डूबता उतराता है। उस व्यापक प्रेमालाप मे भक्त की पार्थिव सत्ता जैसे मिट जाती है और वह तन्मय होकर उसी मे रम उठता है। आनन्द की उस मोहक स्थिति मे लोक-विधान और लोक संग्रह की चिन्ता नहीं। मैथिल कोकिल विद्यापति और गीतगोविन्दकार जयदेव भी सख्य पद्धति के उपासक थे। इन कवियो ने कृष्ण के प्रेम और शृंगार की जो धारा पूरब में बहाई उसका प्रभाव सूरदास पर भी पड़ा था। इन्ही कवियो की तरह सूरदास को भी समाज को देखने का अवसर नही मिला। भगवत प्रेम की शृङ्गारमयी अलौकिक छटा से उन्होने भावो का जो रसोन्मत्त चित्रण किया, इसमे सन्देह नही इनके लिये तो यह सात्विक है, किन्तु साधारण जनता की विषय वासना

पर उसका प्रभाव कल्याण कर न रहा। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन्होने अपनी भक्ति का चरम विकास बनाया उसी को लेकर हिन्दी के रीतिकालीन कवियो ने शृङ्गार की उन्मादकारिणी अभिव्यञ्जनाओ से हिन्दी साहित्य को पाट दिया।

भाषा और शैली—सूर की काव्य रचना मे काव्य के शास्त्रीय गुणो का भरपूर विकास हुआ है। अलङ्कारो का स्वाभाविक सौन्दर्य, ध्वनि और रस सचार की लोकोत्तर मधुरता, मार्मिक शब्द चित्र, हृदय को बरबस अपनी ओर खीच लेने की क्षमता, सूरसागर के पदो की विशेषतायें है। नवीन प्रसगो की उद्भावना मे सूरदास हिन्दी साहित्य मे अकेले है। बाललीला और प्रेम-लीला के प्रसंग मे उन्होने कितने ही अनोखे अवतरणो की कल्पना की है। यमुना के किनारे शरद-विभावरी मे रासलीला का चित्रण करते समय जैसे इस नेत्र-विहीन कवि को असंख्य आँखे मिल गई है। कृष्ण के प्रवास मे गोपियों के उमड़ते हुए विरह सागर के वर्णन मे महाकवि ने जिस तन्मयता का चित्रण किया है उसमे उद्धव का ज्ञानवाद भी हवा हो जाता है। वियोग की जितनी दशायें सम्भव हो सकती है, मनुष्य की अनुभूति क्या, कल्पना मे भी जिन्हे जगह मिल सकती है, इस काम-काजी संसार मे कवि ने उन्हे सदैव के लिए सत्य कर दिया है। 'भ्रमरगीत' सूरसागर का सबसे मार्मिक अंश है। गोपियो की मनोदशा और वचन विदग्धता का मनोहारी रूप सहृदय पाठको के मन मे जिस कोमल करुण भाव का उद्रेक करता है, उसकी अनुभूति मे कबीर की सूखी तर्क-पद्धति हिल उठती है। 'भ्रमरगीत' की तरह का सुन्दर उपालम्भ काव्य और कही नही मिला। 'सूरसागर' का वात्सल्य वर्णन, स्वाभाविक, मनोहारी और मनोवैज्ञानिक है। नेत्र पर सूर की उक्तियाँ अपनी कोटि की बस स्वयं है।

सूर की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। कुछ थोड़े स्थलों को छोड़ कर जिनमे कवि की शब्द चातुरी के कारण कठिनाई पैदा हो गई है, शेष भाग प्रसाद गुण सम्पन्न, मधुर और सरस है। संगीत की लय और ध्वनि इनकी भाषा मे गूँजती रहती है। संयत, परिष्कृत और स्वाभाविक भाषा का प्रवाह-मन्द, मन्थर किन्तु गम्भीर गति का सूचक है। राधा और कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य के रस मे निमग्न महाकवि की भाषा भी जैसे उसी रस में निमग्न हो उठी है।

गोस्वामी बिट्ठलदास ने जो श्रीवल्लभाचार्य के पुत्र थे कृष्ण भक्ति शाखा के जिन प्रसिद्ध आठ कवियों को चुनकर अष्टछाप की प्रतिष्ठा की उनमे सूरदास सर्वप्रिय और सर्वमान्य है। जनश्रुति के अनुसार तो इनकी रचनाओं का अधिकांश भाग लुप्त हो चुका है, किन्तु जो उपलब्ध है, उसके बारे मे भी विद्वानो मे मतभेद है। कृष्ण के अनन्यभक्त महाकवि सूरदास ने जो कुछ भी लिखा होगा, उसका सम्बन्ध उनके एकमात्र आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण से होना ही युक्ति सगत प्रतीत होता है। इस विचार-धारा से विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उन्होने केवल अपने महान ग्रन्थ 'सूरसागर' की रचना की थी। 'सूर सारावली' और साहित्य-लहरी' तो सूरसागर के ही अंश है। जिनका संकलन सम्भव है, किसी विशेष प्रयोजन से सूरदास ने स्वयं किया हो अथवा उनके किसी शिष्य ने। 'पदसंग्रह' 'दशम स्कन्ध' 'नागलीला' 'नल दमयन्ती' 'हरिवंश' टीका इनकी रचनायें नही हो सकती।

विनय

(राग बिलावल)

चरण कमल बन्दौ हरि राई।
जाकी कृपा पगु गिरि लंघै, अंधे कौ सब कछु दरसाइ ॥

बहिरौ सुनै गूँग पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौ तिहि पाई॥ १॥

(सारंग)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै॥
कमल नैन कौ छाँड़ि महातम, और देव को धावै ?
परम गंग को छाँड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो, क्यो करील फल खावै ?
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥ २॥

(सारंग)

आजु जो हरिहि न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सान्तनु-सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहि न पाऊँ॥
पांडव दल सम्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
'सूरदास' रन बिजय-सखा को, जियत न पीठ दिखाऊँ॥ ३॥

(आसावरी)

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मेरी, यह ब्रत टरत न टारे॥
भक्त-काज लाज हिय धरि कै, पाइ पयादे धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ-तहँ जाय छुड़ाऊँ॥
जो मम भक्त सो बैर करत है, सो निज बैरी मेरो।
देखि बिचारि भक्त-हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीति भक्त अपने की, हारे हारि बिचारौं।
'सूरदास' सुनि भक्त बिरोधी, चक्र सुदर्शन जारौं॥ ४॥

(सारंग)

वा पट पीत की फहरानि ।
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहि बिसरति वह बानि ॥
रथ मे उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि ।
मानो सिंह सैल ते निकस्यौ; महा-मत्त गज जानि ॥
जिन गोपाल मेरो प्रन राख्यो, मेटि बेद की कानि ।
सोई 'सूर' सहाय हमारे, निकट भये है आनि ॥ ५ ॥

(राग कान्हरो)

अबिगत गति कछु कहत न आये ।
ज्यौं गूॅगे मीठे फल की रस अन्तर गतही भावै ॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोप उपजावै ।
मन बानी कौं अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहि तातैं 'सूर' सगुन लीला पद गावै ॥ ६ ॥

(धनाश्री)

प्रभु हौ सब पतितन को टीको ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौ जनमान्तर ही को ॥
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही को ।
मोहि छाॅड़ि तुम और उधारे मिटै सूल क्यों जी को ॥
कोऊ न समरथ अब करिबे को खैचि कहत हौ लीको ।
मरियत लाज 'सूर' पतितनि मे मोहू ते को नीको ॥ ७ ॥

(केदारो)

बन्दौ चरन सरोज तुम्हारे ।
जे पद-पदुम सदा सिब के धन सिंधु-सुता उरते नहि टारे ॥
जे पद-पदुम परशि भई पावन सुरसरि दरस कटत अब भारे ।
जे पद-पदुम परसि ऋषि पत्नी, बलि, नृग, व्याध पतित बहुतारे ॥

जे पद-पदुम रमत वृन्दाबन अहि सिरधरि अगनित रिपुमारे।
जे पद-पदुम परसि ब्रज भामिन सरवसु दै सुत सदन बिसारे॥
जे पद-पदुम रमत पांडव दल दूत भये सब काज सँवारे।
'सूरदास' तेई पद पंकज त्रिविध ताप दुख हरन हमारे॥ ८॥

(नट)

भावी काहू सों न टरै।
कहँ वे राहु कहाँ वे रबि ससि आनि सँजोग परै॥
भारथ मे भरुही के अंडा घंटा टूटि परै।
गुरु वसिष्ठ पंडित मुनि ग्यानी रुचि-रुचि लगन धरै॥
पिता मरन और हरन सिया को बन मे बिपति परै।
हरीचन्द से दानी राजा नीच को टहल करै॥
तीन लोक भावी के बस मे सुर नर देह धरै।
'सूरदास' होनी सो होइहै को पचि पचिहि मरै॥ ९॥

(धनाश्री)

माधव जू! जो जन ते बिगरै।
तउ कृपाल करुना केसव प्रभु नहि जीय धरै॥
जैसे जननि जठर अतरगत सुत अपराध करै।
तउ पुनि जतन करै अरु पोसे निकसे अंक भरै॥
जद्यपि मलय बृच्छ जड़ काटत कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाय सुगंध सुसीतल रिपुतन ताप हरै॥
करुना करत दयालु दयानिधि निज भय दीन डरै।
यहि कलि काल व्याल मुख ग्रासित 'सूर' सरन उबरै॥१०॥

(सारंग)

मेरे जिय ऐसो आनि बनी।
छाँड़ि गोपाल और जो सुमिरो तो लाजो जननी॥
मन, क्रम, बचन और नहि चितवो जब तक स्याम धनी।
विषय को मेरु कहा लै कीजै, अमृत एक कनी॥

का लै करा काँच को संग्रह त्यागि अमोल मनी।
'सूरदास' भगवंत भजन को, तजत जाति अपनी ॥११॥

(गुर्जरी)

रे मन मूरख जनम गँवायो।
करि अभिमान विषय सो रांच्यौ स्याम सरन नहि आयो ॥
यह संसार फूल सेंवर को सुन्दर देखि भुलायो।
चाखन लग्यो रुई उधरानी हाथ कछू नहि आयो ॥
कहा भयौ अब के मन सोचे पहिले नाहि कमायो।
कहै 'सूर' भगवंत भजन बिनु सिर धुनि-धुनि पछितायो ॥१२॥

(कान्हरो)

सोई रसना जो हरि गुन गावै।
नैननि की छबि यहै, चतुर सोई जो मुकुन्द दरसन हित पावै ॥
निर्मल चित सो, सोई साँचो, कृस्न बिना जिहि अवरु न भावै।
स्रवनन की जु यहै अधिकाई हरिजस नित प्रति स्रवनन प्यावै ॥
कर तेई जु स्याम को सेवैं चरनन बलि बृन्द्रावन जावै।
'सूरदास' है बलि-बलि ताकी जो संतन सो प्रीति बढ़ावै ॥१३॥

(केदारा)

है हरि नाम को आधार।
और यह कलि काल नाहिन रह्यौ निधि व्यौहार ॥
नारदादि सुकादि संकर कियौ यहै विचार।
सकल श्रुति-दधि मथत पायौ इतनौई घृत सार ॥
दसहु दिसि गुन कर्म रोक्यो मीन को ज्यो जार।
'सूर' हरि को भजन करतहि मिटि गयो भव भार ॥१४॥

बाल गोपाल

(राग नायकी)

जसुदा, नार न छेदन दैहौ।
मनि मय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौ लैहौ ॥

औरनि के हैं गोप-खरिक बहु, मोहि गृह एक तुम्हारौ।
मिटि जु गयौ संताप जनम कौ, देख्यौ नन्द दुलारौ॥
बहुत दिनन की आसा लागी, झगरिनि झगरी कीनौ।
मन मैं बिहँसि तबै नँदरानी, हार हिये कौ दीनौ॥
जाके नार आदि ब्रह्मादिक, सकल बिस्व आधार।
'सूरदास' प्रभु गोकुल प्रकटे, मेटन कौं भू भार॥१५॥

(रामकली)

हौं इक नई बात सुनि आई !
महरि जसोदा ढोटा जायौ, घर-घर होत बधाई॥
द्वारैं भीर गोप-गोपिन की, महिमा बरनि न जाई।
अति आनन्द होत गोकुल में रतन भूमि सब छाई॥
नाचत बृद्ध, तरुन, अरु बालक, गोरस कीच मचाई।
'सूरदास' स्वामी सुख सागर, सुन्दर स्याम कन्हाई॥१६॥

(राग धनाश्री)

आजु नन्द के द्वारैं भीर।
इक आवत, इक जात बिदा ह्वै, इक ठाढ़े मन्दिर कै तीर॥
कोउ केसरि कौ तिलक बनावत, कोउ पहिरति कंचुकी सरीर।
एकनि कौं गो-दान समर्पत, एकनि कौं पहिरावत चीर॥
एकनि कौं भूषन पाटम्बर, एकनि जौं जु देत नग हीर।
एकनि कौं पुहुपनि की माला, एकनि कौं चन्दन घसि नीर।
एकनि माथैं दूब रोचना, एकनि कौं बोधति दै धीर।
'सूरदास' धनि स्याम सनेही धन्य जसोदा पुन्य सरीर॥१७॥

(राग कल्यान)

सोभा-सिंधु न अन्त रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिन फिरति बही री।
देखी जाई आजु गोकुल मैं, घर घर बेंचति फिरति दही री।
कहँ लगि कहौं बनाय बहुत बिधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री॥

जसुमति-उदर अगाध-उदधि तै, उपजी ऐसी स्रबनि कही री।
'सूर'-स्याम प्रभु इन्द्र-नील मनि, ब्रज बनिता उर लाइ गहीरी ॥१८॥

(राग कान्हरौ)

पलना स्याम झुलावत जननी।
अति अनुराग परस्पर गावति, प्रफुलित मगन होति नँद घरनी ॥
उमँगि-उमँगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी।
'सूरदास' प्रभु मुदित जसोदा, पूरन भई पुरातन करनी ॥१९॥

(राग बिलावल)

कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि-हरषि अपनै रंग खेलत ॥
सिव सोचत, बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ़्यौ सागर-जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै दिगपति दिगदंतीन सकेलत।
मुनि मन भीत भए, भुव कंपति, सेष सकुचि सहसो फन पेलत।
उन ब्रज-बासिन बात न जानी, समुझे 'सूर' सकट पग ठेलत ॥२०॥

(राग धनाश्री)

सुत मुख देख जसोदा फूली।
हरषित देख दूध की दँतियाँ, प्रेम मगन तन की सुधि भूली ॥
बाहरि तै तब नन्द बुलाये, देखौ धौं सुन्दर सुखदाई।
तनक-तनक सी दूध-दँतुलियाँ, देखौ नैन सफल करौ आई ॥
आनँद सहित महर तब आये, मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
'सूर' स्याम किलकत द्विज देख्यौ, मनौ कमल पर बिज्जु जमाई ॥२१॥

(राग बिलावल)

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए ॥
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहि पिए ॥

कठुला-कंठ बज्र केहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य 'सूर' एकौ पल इहि सुख, का सत कल्प जिए॥२२॥

(राग बिलावल)

जब दधि मथनी टेकि अरै।
आरि करत मटुकी गहि मोहन, बासुकि संभु डरै॥
मंदर डरत सिंधु पुनि काँपत; फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होइ जनि गहौ मथानी, प्रभु मरजाद टरै॥
सुर अरु असुर ठाढ़े सब चितवत, नैननि नीर ढरै।
'सूरदास मन मुग्ध जसोदा मुख दधि बिंदु परै॥२३॥

(राग बिलावल)

देखौ माई दधि-सुत मैं दधि जात।
एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु मैं रिपु जु समात॥
दधि पर कीर, कीर पर पंकज, पंकज के द्वै पात।
यह सोभा देखत पसु-पालक, फूले अंग न समात॥
बारंबार बिलोकि सोचि चित, नंदमहर मुसक्यात।
यहै ध्यान मन आनि स्याम कौ 'सूरदास' बलि जात॥२४॥

(राग ललित)

जागौ, जागौ हो गोपाल।
नाहि। इतौ सोइयत सुनि सुत, प्रात परम सुचि काल॥
फिरि-फिर जात निरखि मुनि छिन-छिन सब गोपनि के बाल।
बिन बिकसे कल कमल-कोष तै मनु मधुपनि की माल॥
जो तुम मोहि न पत्याहु 'सूर' प्रभु, सुन्दर स्याम तमाल।
तौ तुमही देखौ आपुन तजि निद्रा नैन बिसाल॥२५॥

(राग गौरी)

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायौ।
मोसो कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ ?

कहा करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहि जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को हैं तेरौ तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत हँसत सबै मुसुकात॥
तू मोही कौ मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बल भद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
'सूर' स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥२६॥

रूप माधुरी

नंदनँदन मुख देखो माई।
अंग अंग छबि मनहु उए रबि, ससि अरु समर लजाई॥
खंजन मीन कुरंग भृङ्ग बारिज पर अति रुचि पाई।
श्रुति मंडल कुंडल बिबि मकर सु बिलसत मदन सहाई॥
कंठ कपोत कीर बिद्रुम पर दारिम कननि चुनाई।
दुइ सारँग बाहन पर मुरली आई देत दोहाई॥
मोहे थिर चर बिटप बिहंगम ब्योम बिमान थकाई।
कुसुमाँजुलि बरषत सुर ऊपर 'सूरदास' बलि जाई॥२७॥

(राग गूजरी)

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई नहि पटतर एक सैन॥
राजिव दल, इन्दीवर, सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहि वे बिकसत, ये बिकसत दिन राति॥
अरुन सेत सिती झलक पलक प्रति को बरनै उपमाइ।
मनु सरसुति गंगा जमुना मिलि संगम कीन्हौ आइ॥
अवलोकनि जलधार तेज अति तहाँ न मन ठहरात।
'सूर' स्याम लोचन अपार छबि उपमा सुनि सरमात॥२८॥

(राग नट)

राजत रोम राजी रेष ।
नील घन मनु धूम धारा रहो सुच्छम सेश ॥
निरखि सुंदर हृदय पर भृगुलता परम सुलेष ।
मनहु सोभित अभ्र-अंतर संभु भूषन भेष ॥
मुक्त माल नछत्रगन सम अर्ध चंद्र विसेष ।
सजल उज्वल जलद मलयज प्रबल बलनि अलेष ॥
केकि-कच सुरचाप की छबि दमन तड़ित सुपेष ।
'सूर' प्रभु अवलोकि आतुर तजे नैन निमेष ॥२९॥

(राग धनाश्री)

ब्रज जुवती हरि चरन मनावैं ।
जे पद कमल महा मुनि दुर्लभ ते सपनेहु नहि पावै ॥
तनु त्रिभंग जुग जानु, एक पग ठढ़े एक एक दरसायो ।
अंकुस कुलिस बज्र ध्वज परगट तरुनी मन भरमायो ॥
वह छबि देखि रही एक टक ही यह मन करत बिचार ।
'सूरदास' मनो अरुन कमल पर सुषमा करति बिहार ॥३०॥

(राग कान्हरो)

स्याम कमल पद नख की सोभा ।
जे नख चंद्र इन्द्र सिर परसे सिव विरंच मन लोभा ॥
जे नख चंद्र सनक मुनि ध्यावत नहि पावत भरमाहीं ।
जे नख चंद्र प्रगट ब्रज जुवती निरखि-निरखि हरषाही ॥
जे नख चंद्र फनीन्द्र हृदय तें एकौ निमिषु न टारत ।
जे नख चंद्र महामुनि नारद पलक न कहूँ बिसारत ॥
जे नख चंद्र भजत तम नासत, रमा हृदय जेहि परसत ।
'सूर' स्याम नख चंद्र बिमल छवि गोपी जन जिमि दरसत॥३१॥

मुरली माधुरी

(राग मलार)

जब मोहन मुरली अधर धरी ।
गृह व्यवहार थके आरज पथ तजत न सक करी ॥
पद्रिपु पद अटक्यो आतुर ज्यों उलटि पलटि उबरी ।
सिव-सुत बाहन आय पुकारो मन चित बुद्धि हरी ॥
दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारँग सुधि बिसरी ।
उड़पति, बिद्रुम, बिम्ब खिसान्यो दामिनि अधिक डरी ॥
निरखे स्याम पतंग सुता तट आनँद उमँग भरी ।
'सूरदास' प्रभु प्रीति परसपर प्रेम प्रवाह परी ॥३२॥

(राग विहागरो)

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई ।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज बनिता मिलि धाई ॥
जमुना नीर प्रवाह थकित भयौ पवन रहौ मुरझाई ।
खग मृग मीन अधीन भये सब अपनी गति बिसराई ॥
द्रुम बेलि अनुराग पुलक तनु, ससि थक्यो, निसि न घटाई ।
'सूर' स्याम बृन्दावन बिहरत चलहु सखी सुधि पाई ॥३३॥

(राग कल्याण)

जब हरि मुरली नाद प्रकास्यो ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हे पाहन जलज विकास्यो ॥
स्वर्ग पताल दसौ दिस पूरन ध्वनि आच्छादित कीन्हो ।
निसि वर कल्प समान बढ़ाई गोपिन को सुख दीन्हों ।
मैमत भये जीव जल थल के तन की सुधि न सँभार ।
'सूर' स्याम मुख बैन मधुर सुनि उलटे सब व्यवहार ॥३४॥

(राग केदारो)

मुरली सुनत अचल चले ।
थके चर जल झरत पाहन, बिफल बृच्छहु फले ॥

पय स्रवत गोधननि थन तें प्रेम पुलकित गात ।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव, बिटप चंचल पात ॥
सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्र की अनुहारि ।
धरनि उमँगि न माति धर मै, जति जोग बिसारि ॥
ग्वाल घर घर सहज सोवत उहै सहज सुभाई ।
'सूर' प्रभु रस-रास के हित सुखद रैनि बढ़ाई ॥३५॥

(राग पूर्वी)

मुरली गति बिपरीति कराई ।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यौ राधारमन बजाई ॥
बछरा धन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृन धेनु ।
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु ॥
बिह्वल भये नही सुधि काहू सुर गंध्रब नर नारि ।
'सूरदास' सब चकित जहाँ तहँ ब्रज जुवतिन सुखकारि ॥३६॥

(राग केदारो)

जीती जीती है रन बंसी ।
मधुकर सूत, बदत बंदी पिक, मागध मदन प्रसंसी ।
मंथ्यो मान बल दर्प महीपति जुवति जूथ गहि आने ॥
ध्वनि कोदंड ब्रह्मंड भेद करि सुर सन्मुख सर ताने ।
ब्रह्मादिक सिव सनक सनंदन बोलत जय जय बाने ॥
राधापति सरबसु अपनो दै पुनि ता हाथ बिकाने ।
रबि को रथ लै दियो सोम को षठ रस कला समेत ॥
रच्यो यज्ञ रस रास राजजू वृन्दा बिपिन निकेत ।
दान मान परधान प्रेम रस बढ्यो माधुरी हेत ॥
अधिकारी गोपाल तहाँ है 'सूर' सबनि सुख देत ॥३७॥

भ्रमर गीत

(राग मलार)

हमरे कौन जोग ब्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को इतनो अवराधै ॥
जाकी कहूँ थाह नहि पैये अगम अपार अगाधै ।
गिरधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै ?
आसन पवन भूति मृगछाला ध्याननि को अवराधै ?
'सूरदास' मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ॥३८॥

(राग धनाश्री)

तेरो बुरो न कोऊ मानै ।
रस की बात मधुप नीरस सुनु रसिक होत सो जानै ॥
दादुर बसै निकट कमलनि के जनम न रस पहिचानै ।
अलि अनुराग उड़न मन बाँध्यो कहो सुनत नहि कानै ॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूल मूल द्रुम भानै ।
कायर बकै लोह ते भाजै, लरै सो 'सूर' बखानै ॥३९॥

(राग सारंग)

बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे ।
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहि ते कारे ॥
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे ।
तिनके संग अधिक छबि उपजत कमलनैन मनिआरे ॥
मानहुँ नील माट ते काढ़े ले जमुना जु पखारे ।
ता गुन स्याम भई कालिन्दी 'सूर' स्याम गुन न्यारे ॥४०॥

(राग सारंग)

हमको हरिकी कथा सुनाव ।
अपनी ज्ञान कथा हो ऊधो मथुरा ही लै गाव ॥
नागरि नारि भले बूझैंगी अपने बचन सुभाग ।
पालागों, इन बातनि रे अलि ! उनही जाय रिझाव ॥

सुनि प्रिय सखा स्याम सुन्दर के जो पै जिय सति भाव ।
हरि मुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव ।।
जो कोउ कोटि जतन करे मधुकर बिरहि न और सुहाव ।
'सूरदास' मीनन को जल बिनु नाहिन और उपाव ।।४१।।

(राग धनाश्री)

रहि रे मधु मतवारे ।
कहा करौं निरगुन लैकै हौं, जीवहु कान्ह हमारे ।।
लोटत नीच पराग पंक मे पचत न आपु सम्हारे ।
बारमबार सरक मदिरा की अपरस कहाँ उघारे ।।
तुम जानत हमहू वैसी हैं जैसे कुसुम निहारे ।
घरी पहर सबको बिलमावत ते आवत कारे ।।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन जसुमति नंद दुलारे ।
'सूर' श्याम को सर्वसु अर्प्यो अब कापै हम लेहि उधारे ।।४२।।

(राग सारंग)

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समझाय सौंह दै बूझत साँच न हाँसी ।।
को है जनक जननि को कहियत कौन नारि को दासी ?
कैसी बरन भेस है कैसो केहि रस मे अभिलासी ।।
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे ! कहैगो गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो 'सूर' सबै मति नासी ।।४३।।

(राग रामकली)

तौ हम मानै बात तुम्हारी ।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधौ मुकुट पिताम्बर धारी ।।
भजि हैं तब ताको सब गोपी सहि रहि है बरु, गारी ।
भूत समान बतावत हमको जारहु स्याम बिसारी ।।
जे मुख सदा सुधा अँचवत है ते विष क्यों अधिकारी ।
'सूरदास' प्रभु एक अंग पर रीझि रहीं ब्रज नारी ।।४४।।

(राग बिलावल)

ऊधो तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रँमी स्याम रँग तिन्ह न चढ़ै रंग आन॥
दुइ लोचन जो बिरद किये श्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो ताहू मे बिधु प्रीतम रिपु भान॥
बिरहिनि बिरह भजै पालागो तुम हौ पूरन ज्ञान।
दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान॥
बारिज बदन, नयन मेरे षटपद कब करि है मधुपान।
'सूरदास' गोपीन प्रतिज्ञा छुवत न जोग बिरान॥४५॥

(राग रामकली)

ऊधौ जाहु तुम्है हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहि पठाये तुम हौ बीच भुलाने॥
ब्रज बासिन सो जोग कहत हौ बातहु कहत न जाने।
बड़ लागै न बिबेक तुम्हारो ऐसे नये अयाने॥
हमसौ कही लई सो सहि के जिय गुनि लेहु अपाने।
कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर सँमुख करो पहिचाने॥
साँच कहो तुमको अपनी सौ बूझति बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुमहि पठाये, तब नेकहु मुसकाने॥४६॥

(राग मलार)

मधुकर ये मन बिगरि परे।
समझतु नाहि ज्ञान गीता को हरि मुसकानि अरे॥
बालमुकुन्द रूप रस राँचे ताते बक्र खरे।
होय न सूधी स्वान पूँछि ज्यो कोटिन जतन करे॥
हरिपद नलिन बिसारत नाही सीतलता सँचरे।
योग गँभीर जु अन्ध कूप तेहि देखत दूरि डरे॥
हरि अनुराग सुहाग भाग भरे अमिय तें गरल गरे।
'सरदास' वरु ऐसेहि रहिहै कीन्ह बियोग भरे॥४७॥

(राग केदारो)

आजु घनस्याम की अनुहारि ।
उनै आये साँवरे सखि लेहि रूप निहारि ॥
इन्द्र धनुष मनु पीत बसन छबि दामिनि दसन बिचारी ।
जनु बगपाँति माल मोतिन की चितवत चित ले हारी ॥
गरजत गगन गिरा गोबिद की सुनत नयन भरे बारि ।
'सूरदास' गुन सुमिरि स्याम के बिकल भइ ब्रज नारि ॥४८॥

(राग धनाश्री)

कहत किन परदेसी की बात ।
मदिर अरध अवधि हरि बदि गये हरि अहार चलि जात ॥
ससिरिपु वरष भानुरिपु जुग सम, हर रिपु किए फिरै घात ।
मघ पंचम लै गये स्यामघन ताते जिय अकुलात ॥
नखत बेद, ग्रह जोरि अरध करि को बरजै हमे खात ।
'सूरदास' प्रभु तुमहि मिलन को कर मीड़त पछितात ॥४६॥

(राग सारंग)

ऊधो इतने मोहि सतावत ।
कारी घटा देख बादर की दामिनि चमकि डरावत ॥
हेम सुता पति को रिपु त्रासत दधिसुत रथ न चलावत ।
कंचन पुर-पति को जो भ्राता तासु प्रिया नहि आवत ॥
अम्बूखंधन सब्द सुनत ही चित्त चकित उठि धावत ।
संभू सुत को जो बाहन है कुहकै असल सतावत ॥
यद्यपि भूषन अंग बनावत सोइ भुजंग ह्वै धावत ।
'सूरदास' बिरहिनि अति व्याकुल खगपति चढ़ि किन आवत ॥५०॥

मलिक मुहम्मद जायसी

इनका जन्म विक्रम की सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जायस नामक स्थान में हुआ था जो रायबरेली ज़िले मे पड़ता है। थोड़ी ही आयु मे चेचक से इनकी आँख जाती रही और इनकी आकृति भी कुरूप हो गई। किवदन्ती है कि इनकी कुरूपता पर शेरशाह हँस पड़ा था, जिसके उत्तर मे इन्होने कहा था 'मोहिका हँससि कि काहरहि ?" ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिनो (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे। पद्मावती की कथा के आरम्भ मे मसनवी रूढ़ि के अनुसार इन्होने तत्कालीन बादशाह शेरशाह की प्रशंसा की है।

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज राज औपाटू। सब राजै भुइँ धरा ललाटू॥

इस प्रकार यह अनुमान होता है कि पद्मावत की रचना शेरशाह के शासन काल मे सन् १५४० के आस-पास चल रही थी।

जायसी अपने समय के प्रसिद्ध फ़क़ीरो मे गिने जाते थे। अमेठी के राजवंश मे इनका आदर था। अपने अन्तिम समय मे यह अमेठी से कोस-भर की दूरी पर एक जंगल मे रहते थे और वही इनकी मृत्यु भी हुई। इनकी मृत्यु की तिथि अभी तक निश्चित नही हो सकी है।

इनके जीवन काल मे ही इनके शिष्य, इनके बनाये दोहे,



चौपाइयाँ गाते फिरते थे। इनका जीवन सरल और आडम्बरहीन था। इस्लाम मे पूरी निष्ठा रखते हुए भी ये अपने संस्कार मे हिन्दू थे। ग्राम-कथाओं मे हीरामन तोते की बातें आज भी कही जाती है और ग्रामीण आज भी कैलाश को स्वर्ग समझते हैं। इनके प्रसिद्ध काव्य पद्मावत मे हीरामन तोता एक चरित्र है और स्वर्ग के अर्थ मे इन्होने बार-बार कैलाश का प्रयोग किया है। जायसी की सारी जानकारी परम्परागत ग्रामीण हिन्दू-विश्वासो और अनुभूतियो पर अवलम्बित है। एक शब्द मे जायसी ग्रामीण जीवन-धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। वहाँ हिन्दू और मुसलमान शब्द मे सांस्कृतिक भेद की लपटे नही उठ रही हैं। विश्वासो और अनुभूतियो की एक देशीयता मे धार्मिक भेदो की दीवारे नही खड़ी है, वहाँ जैसे सब कुछ घुल-मिलकर एक हो गया है। इसीलिए मुसलमानी धर्म की कट्टरता जायसी के भीतर नही मिलती। उनकी सहानुभूति व्यापक है।

धार्मिक भावना—सूफी होने के कारण जायसी मे विश्व-बंधुत्व रागात्मक रूप में व्यक्त हुआ है। कबीर ने अपनी शुष्क तर्क बुद्धि से हिन्दुओ और मुसलमानो को फटकार बताकर उनको रूढ़ियो के तोड़ने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर कटुता बढ़ाने वाला ही सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नही। मनुष्य-मनुष्य के भीतर जो सहानुभूति का सम्बन्ध है उसे दिलाने मे जायसी सिद्ध हुए, कबीर नहीं। अपने नित्य-नित्य के जीवन मे मनुष्य जिस अनुभूति साम्य का अनुभव करता है उसकी अभिव्यजना कबीर से न हो सकी। जायसी ने अपनी प्रेम-कहानी का वह स्वाभाविक चित्रण किया जिसका मनुष्य मात्र के हृदय पर सामान्य प्रभाव पड़ता है। मुसलमान होकर भी हिन्दू कथा, हिन्दू वार्ता और हिन्दू परम्परा के अनुसार लिखकर इन्होने अपनी उस भावना का परिचय दिया, जिसका अन्तःकरण हिन्दू था। कबीर जहाँ

परोक्ष सत्ता की एकता मे भटकते रहे, वहाँ जायसी ने प्रत्यक्ष जीवन की एकता का राग सुनाया। प्रेम के स्वाभाविक चित्रण मे जायसी और सूर मे कोई मौलिक भेद नही देख पड़ता। दोनो ही सहृदय हैं, दोनो ही की सहानुभूति व्यापक है। अपनी मार्मिक उक्तियो से इन दोनो महाकवियो ने मनुष्य के अतल को पुलकित करने की चेष्टा की है, बुद्धि का बवंडर उठाना इनका काम नही।

भाषा और शैली—पद्मावत मे प्रेमगाथा की परम्परा सूफी सिद्धान्तो के अनुसार प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है। इसमे लौकिक प्रेम के भीतर आत्मा और ईश्वर के अलौकिक अमर प्रेम की अभिव्यंजना है। इस कथा की सबसे बड़ी विशेषता है, इतिहास और कल्पना का मार्मिक सम्मिश्रण। चित्तौर की महारानी पद्मिनी का इतिहास हिन्दू गौरव गाथाओ में कितना मर्मस्पर्शी और आदर्श है। कहने की आवश्यकता नही, जायसी ने इस इतिहास-प्रसिद्ध कथानक की नायक नायिका में अपनी कल्पना के उत्कर्ष मे उन भावनाओ को रख दिया है जो साधारण हिन्दू जनता के हृदय मे परम्परा से चली आ रही थी।

मानव जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियो के चित्रण मे जायसी पूर्णरूप मे सफल हुए है। प्रेम और रति दशा के उत्कृष्ट वर्णन के ही साथ कर्तव्य, उत्सर्ग, पतिव्रत, स्वामिभक्ति आदि मानवी आदर्शों की अभिव्यक्ति मे भी जायसी की सफलता मे सन्देह नही।

इनकी भाषा का प्रवाह नदी के स्वाभाविक प्रवाह की तरह कही सामान्य और कही तीव्र है। विषयो के अनुसार भाषा के माधुर्य और प्रसाद मे अन्तर पड़ता गया है किन्तु सब कही उस का रूप ठेठ अवधी है। जायसी को भ्रमण का अधिक अवसर नही मिला था इसलिए विभिन्न बोलियो के शब्द उनकी रचना में नही आ सके। इनके सभी ग्रंथ केवल दोहा, चौपाइयो मे लिखे गये है। रीतकालीन कवियो की तरह उन्होने अलंकार के सजाने

की चिन्ता नही की, किन्तु जायसी प्रकृत कवि थे इसलिए बिना किसी भी प्रयास के अलंकार स्वभाविक रूप मे उनकी रचना में आते गये है।

इनकी रचनाओ में प्रसिद्ध 'पद्मावत' के अतिरिक्त 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' है। अखरावट मे वर्णमाला के अक्षरो के क्रम मे सिद्धान्त तत्वो की चौपाइयाँ कही गई हैं। ईश्वर, सृष्टि, जीव, आत्मा और परमात्मा और परमात्मा का रहस्यात्मक सम्बन्ध इसमे वर्णित है। 'आखिरी कलाम मे' इस्लाम धर्म के अनुसार क़यामत के समय ईश्वरीय न्याय का वर्णन है।

पद्मावती का सौन्दर्य

बेनी छोरि झार जौ केसा। रैनि होइ, जग दीपक लेसा॥
सिर हुँत बिसहर परे भुइँ बारा। सगरौ देस भएउ अँधियारा॥
सकपकाहि विष भरे पसारे। लहरि-भरे लह कहि अति कारे॥
जानहुँ लोटहि चढ़े भुअंग। बेधे बास मलयगिरि अंगा॥
लुरहि मुरहिं जनु मानहि केली। नाग चढ़े मालति कै बेली॥
लहरें देइ जनहु कालिंदी। फिर फिर भँवर होय चित-बन्दी॥
चँवर ढुरत आछै चहुँ पासा। भँवर न उड़हि जो लुबुधे बासा॥
होइ अँधियार बीजु धन, लौपै जबहि चीर गहि झाँप।
केस-नाग कित देख मै, सँवरि सँवरि जिय काँप॥ १॥
माँग जो मानिक सेंदुर-रेखा। जनु बसन्त राता जग देखा॥
कै पत्रावली पाटी पारी। औ रचि चित्र विचित्र सँवारी॥
भए उरेह पुहुप सब नामा। जनु बग बिखरि रहे घन सामा॥
जमुना माँझ सुरसती गंगा। दुहुँ दिसि रहा तरंगिनि गंगा॥
सेंदुर-रेख सो ऊपर रातो। बीर बहूटिन्ह कै जनि पाँती॥
बलि देवता भए देखि सेंदूरु। पूजै माँग भोर उठि सूरू॥
भोर साँझ रबि होइ जो राता। ओहि रेखा राता होइ गाता॥

बेनी कारी पुहुप लेइ निकसी जमुना आइ।
पूज इन्द्र आनन्द सौं सेंदुर सीस चढ़ाइ ॥ २ ॥
दुइज लिलार अधिक मनियारा। सकर देखि माथ तहँ धारा ॥
यह नित दुइज जगत सब दीसा। जगत जौहरै देइ असीसा ॥
ससि जो होइ नहि सरवरि छाजै। होइ सो अमावस छपि मन लाजै॥
तिलक सँवारि जो चुन्नी रचा। दुइज माँझ जानहुँ कचपची ॥
ससि पर करवत सारा राहू। नखतन्ह भरा दीन्ह बड़ दाहू ॥
पारस-जोति लिलाटहि ओती। दिस्टि जो करै होइ तेहि जोती ॥
सिरी जो रतन माँग बैठारा। जानहु गगन टूट निसि तारा ॥
ससि औ सूर जो निरमल तेहि लिलाट के ओप।
निसि दिन दौरि न पूजहि, पुनि पुनि होहि अलोप ॥ ३ ॥

गोरा का युद्ध

फिरि आगे गोरा तब हाँका। खेलौं करौं आजु रन-साका ॥
हौं कहिए धौलागिरि गोरा। टरौं न टारे, अंग न मोरा ॥
सोहिल जैस गगन उपराहीं। मेघ-घटा मोहि देखि बिलाहीं ॥
सहसौं सीस सेस सम लेखौं। सहसौं नैन इन्द्र सम देखौं ॥
चारिउ भुजा चतुरभुज आजू। कंस न रहा, और को साजू ॥
हौं होइ भीम आजु रन गाजा। पाछे घालि जुंगवौं राजा ॥
होइ हनुवंत जमकातर ढाहौं। आजु स्वामि साँकरे निवाहौं ॥
होइ नल नील आजु हौं देहुँ समुद्र महँ मेड़।
कटक साह कर टेकौं होइ सुमेरु रन बेड़ ॥ १ ॥
ओनई घटा चहूँ दिसि आई। छूटहि बान मेघ-झरि लाई ॥
डोलै नाहि देव जस आदा। पहुँचे आइ तुरुक सब बादी ॥
हाथन्ह गहे खड़ग हरद्वानी। चमकहि सेल बीजु कै बानी ॥
सोझ बान उस आवहि गाजा। बासुकि डरै सीस जनु बाजा ॥
नेजा उठे डरै मन इन्दू। आइ न बाज जानि कै हिंदू ॥

गोरै साथ लीन्ह सब साथी। जस मैमंत सूँड बिनु हाथी ॥
सब मिलि पहिलि उठौनी कीन्ही। आवत आइ हाँक रन दीन्ही ॥
रुंड मुंड अब टूटहि स्यो बखतर औ कूँड।
तुरय होहि बिनु काँधे, हस्ति होहि बिन सूँड़ ॥ २ ॥

ओनवत आइ सेन सुलतानी। जानहुँ परलय आव तुलानी ॥
लोहे सेन सूझ सब कारी। तिल एक कहूँ न सूझ उघारी ॥
खड़ग फोलाद तुरुक सब काढ़े। धरे बीजु अस चमकहि ठाड़े ॥
पीलवान गज पेले बाँके। जानहुँ काल करहि दुइ फाँके ॥
जनु जमकात करहि सब भवाँ। जिउ लेइ चहहि सरग अपसवाँ ॥
खेल सरप जनु चाहहि डसा। लेहि काढि जिउ मुख बिष-बसा ॥
तिन्ह सामुहँ चारा रन कोपा। अगद सरिस पाँव भुइँ रोपा ॥
सुपुरुष भागि न जानै, भुइँ जौ फिरि फिरि लेइ।
सूर गहे दोऊ कर, स्वामि-काज जिउ देइ ॥ ३ ॥

भइ बग मेल, घनघोरा। औ-गज-पेल, अकेल सो गोरा ॥
सहस कुँवर सहसौ सत बाँधा। भार - पहार जूझकर काँधा ॥
लगे मरै गोरा के आगे। बाग न मोर घाव सुख लागे ॥
जैस पतंग आगि धँसि लेई। एक मुवै दूसर जिउ देई ॥
टूटहि सीस अधर धर मारै। लोटहि कंधहि कंध निनारे ॥
कोई परहि रुहिर होइ राते। कोई घायल घूमहि माते ॥
काइ खुरखेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे होइ जोगी ॥
घरी एक भारत भा; भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवर सब निबरे, गोरा रहा अकेल ॥ ४ ॥

गोरै देखि साथि सब जूझा। आपन काल नियर भा बूझा ॥
कोपि सिंघु सामुह रन मेला। लाखन्ह सौं नहि मरै अकेला ॥
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसे पवन बिदारै घटा ॥
जेहि सिर देइ कोपि करवारू। स्यो घोड़े टूटै असवारू ॥

लोटहि सीस कबंध निनारे। माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे॥
खेलि फाग सेंदुर छिरकावा। चाँचरि खेलि आगि जनु लावा॥
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका। ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका॥
भइ आज्ञा सुलतानी, "बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगे, लिए पदारथ साथ"॥ ५॥

मिलन

पूजा कौनि देउँ तुम्ह राजा? सबै तुम्हार, आव मोहि लाजा॥
तन मन जोबन आरति करऊँ। जीव काढ़ि नेवछावरि धरऊँ॥
पंथ पूरि कै दिस्टि बिछावौं। तुम पग धरहु, सीस मैं लावौं॥
पाँय निहारत पलक न मारौं। बरुनी सेंति चरन-रज झारौं॥
हिय सो मंदिर तुम्हरै, नाहा। नैन पंथ पैठहु तेहि माहाँ॥
बैठहु पाट चत्र नव फेरी। तुम्हरे गरब गरुइ मैं चेरी॥
तुम जिउ, मैं तन, जौ लहि मया। कहै जो जीव करै सो कया॥
जौ सूरज सिर ऊपर, तौ रे कँवल सिर छात।
नाहित भरे सरोवर, सूखे पुरइन-पात॥ १॥

परसि पायँ राजा के रानी। पुनि आरति बादल कहँ आनी॥
पूजे बादल के भुजदंडा। तुरय के पाँव दाव कर खंडा॥
यह गजगवन गरब जो मोरा। तुम राखा बादल औ गोरा॥
सेंदुर-तिलक जो आँकुस अहा। तुम राखा, माथै तौ रहा॥
काछ काछि तुम जिउ पर खेला। तुम जिउ आनि मँजूषा मेला॥
राखा छात, चँवर औ धारा। राखा छुद्रघंट — झनकारा॥
तुम हनुवँत होइ धुजा पईठे। तब चितउर पिय आइ बईठे॥
पुनि गजमत्त चढ़ावा, नेत बिछाई खाट।
बाजत गाजत राजा, आइ बैठ सुखपाट॥ २॥

पद्मावती का सती होना

पद्मावति पुनि पहिरि पटोरी। चली साथ पिउ के होइ जोरी॥

सूरज छपा, रैनि होइ गई। पूनो-ससि, सो अमावस भई ॥
छोरे केस मोति लर छूटी। जानहुँ रैनि नखत सब टूटी ॥
सेंदुर परा जो सीस उघारा। आगि लागि चह जग अँधियारा ॥
यही दिवस हौं चाहति, नाहा। चलौं साथ, पिउ! देहि गलबाहाँ ॥
सारस पंखि न जियै निनारे। हौं तुम्ह बिनु का जियौं, पियारे ॥
नवछावरि कै तन छहरावौं। छार होंउँ सँग बहुरि न आवौं ॥

दीपक प्रीति पतँग जेउँ जनम निबाह करेउँ।
नेवछावरि चहुँ पास होइ कंठ लागि जिय देउँ ॥ १ ॥

नागमती पद्मावति रानी। दुवै महा सत सती बखानी ॥
दुवौ सवति चढ़ि खाट बईठी। औ सिवलोक परा तिन्ह दीठी ॥
बैठौ कोइ राज औ पाटा। अंत सबै बैठे पुनि खाटा ॥
चंदन अगर काठ सर साजा। औ गति देइ चले लेइ राजा ॥
बाजन बाजहि होइ अगूता। दुवौ कंत लेइ चाहहि सूता ॥
एक जो बाजा भएउ बियाहू। अब दुसरे होइ ओर—निबाहू ॥
जियत जो करे कंत के आसा। मुएँ रहसि बैठे एक पासा ॥

आज सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़।
आजु नाचि जिउ दीजिय, आजु आगि हम्ह जूड़ ॥ २ ॥

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिरि भाँवरि लीन्हा ॥
एक जो भाँवर भई बियाही। अब दुसरे होइ गोहन जाही ॥
जियत; कंत! तुम्ह जोरी। आदि अंत लहि जाइ न छोरी ॥
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम तुम, नाह! दुहूँ जग साथी ॥
लेइ सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ी दुवौ कंत गर लाई ॥
लागी कंठ आगि देइ होरी। छार भईं जरि अंग न मोरी ॥

राती पिउ के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा, सो अथवा, रहा न कोई संसार ॥ ३ ॥

गोस्वामी तुलसीदास

'कवित विवेक एक नहि मोरे' कहने वाले विनीत गोस्व तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि है। इनकी जीवनी के सम्ब मे विद्वानो मे अभी तक मतभेद चला आ रहा है। कुछ लोग इन जन्म-स्थान बाँदा का राजापुर और कुछ एटा का सोरो कहते सोरो को उनका जन्म-स्थान सिद्ध करने वालो के पास स्व गोस्वामी तुलसीदास का एक प्रमाण है:—'मै पुन निज गुरु स सुनी कथा सो सूकर खेत'। 'सूकर खेत' को भ्रम से सोरो मान उन लोगो ने उनकी जन्म-भूमि के लिए धुर पश्चिम एटा तक दौड़ लगाई है। लेकिन तथ्य की बात तो यह है कि सूकरखे गोड़ा जिले मे सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है जहाँ लोग स्ना के लिए आते है और मेला भी लगता है। गोस्वामी तुलसीदा सरयूपारीण ब्राह्मण थे और यह गोड़ा जिला वाला सूकरखे सरयूपारीण ब्राह्मणो के प्राय केन्द्र स्थान मे है। इस निर्णय लिए बाबा रघुवरदास का 'तुलसी-चरित' अधिक सहायक है। इ ग्रन्थ के अनुसार गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मि जो गाना के मिश्र थे, सरवार मे मझौली से तेईस कोस प कसया गाँव मे रहते थे। ये तीर्थाटन करते चित्रकूट पहुँचे औ उसी ओर राजापुर मे बस गये। उनके पुत्र शङ्कर मिश्र हुए शङ्कर मिश्र के रुद्रनाथ मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र के मुरारि मिश्र हुए, जिनके पुत्र तुलाराम ही कविकुल शिरोमणि गोस्वामी तुलसी

दासजी हुए। इस प्रकार सरयूपारीण तुलसीदास का सम्बन्ध राजापुर के साथ संगत लगता है।

इसी प्रकार जन्म तिथि भी संदिग्ध है। बेनीमाधवदास तथा रघुबरदास गुसाईं चरित के आधार पर इनका जन्म संवत् १५५४ है। जिसके अनुसार इनकी अवस्था १२६-१२७ वर्ष की होती है। अवश्य ही यह आयु बहुत बड़ी है किन्तु असम्भव नहीं कही जा सकती। गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं में भी उनकी दीर्घायु और वृद्धावस्था की अशक्ति का संकेत मिलता है। मिर्जापुर के प्रसिद्ध रामायणी राम-भक्त पं० रामगुलाम द्विवेदी भक्तों की जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म संवत् १५८९ मनाते थे। डाक्टर ग्रियर्सन ने भी इसी संवत् को स्वीकार किया है।

"तुलसी परासर गोत दुबे पतिऔजा" इस प्रसिद्धि के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम था हुलसी। माता के नाम के बारे में रहीम का यह दोहा प्रमाण स्वरूप उपस्थिति किया जाता है।

सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी - सो सुत होय॥

लेकिन यहाँ यदि हुलसी को तुलसी की माता का नाम न मानकर, उल्लसित होने के अर्थ में लिया जाय तो फिर इस दोहे का अर्थ ही दूसरा हो जायगा। देव, मानव और नाग जाति की नारियों में सब किसी की यही कामना है कि उन्हें तुलसी के समान यशस्वी पुत्र उत्पन्न हो जिसे गोद में लेकर वे उल्लसित होकर इधर-उधर [उसे रिझाने के लिए] घूमती रहें। रहीम खानखाना तुलसीदास के मित्र थे। किंवदन्ती तो यह है कि इस दोहे का पूर्वार्ध स्वयं गोस्वामी तुलसीदास की रचना है और उत्तरार्ध रहीम की। तुलसी की माता का नाम यशःस्तुति में भी रहीम नहीं ले सकते। सकृत समाज आपस के व्यवहार में ऐसा आचरण

कभी नहीं करता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस दोहे पर इ दृष्टिकोण से विचार क्यों नही किया. विस्मय की बात है हुलास, हुलस शब्द का व्यवहार प्रसन्नता, उल्लास के अर्थ सरवार मे आज भी होता है, और सूरदास ने भी इसी अर्थ इसका प्रयोग किया है।

'माता पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भा भलाई' इस तरह की और भी गोस्वामीजी की उक्तियाँ है जिन उनका बाल्यकाल संकटापन्न सिद्ध होता है। जनश्रुति के अनुसा गोस्वामी तुलसीदास अभुक्त मूल मे उत्पन्न हुए थे, इससे माता पिता ने त्याग दिया। इसी असहाय स्थिति मे बाबा नरहरिदास को ये मिले थे। इन्ही गुरु के साथ गोस्वामीजी सूकरक्षेत्र त गये और वहाँ इनसे उन्होने रामचरित की कथा भी सुनी। कुछ काल बाद बाबा नरहरिदास इन्हे साथ लेकर काशी आये औ स्वामी रामानन्दजी के स्थान पर रहने लगे। वहाँ पर परम विद्वान् महात्मा शेष सनातनजी रहते थे जिन्होने गोस्वामी जी को वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण और अन्य शास्त्रविद्या मे निपुण क दिया। १५ वर्षों के इस अध्ययन के बाद गोस्वामी जी अपन जन्म-भूमि राजापुर लौटे।

यमुना पार के एक भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण जो यमद्वितीय को स्नान के लिए राजापुर आये थे गोस्वामी के गुण और शील पर ऐसे मुग्ध हुए कि उन्होने इन्हे अपनी कन्या ब्याह दी। तुलसीदासजी अपनी पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि उसके मायके चले जाने पर उसके वियोग की अधीरता मे वह भी उसके पीछे ससुराल जा धमके। लोक-लज्जा ग्लानि के कारण कहा जाता है कि उस नारी ने इनसे यह दोहा कहा—

अस्थि-चर्म-मय देह मम तामे जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भवभीत॥

यह बात गोस्वामीजी को ऐसी लगी कि वे तुरन्त काशी आकर विरक्त हो गये। यह वृत्तान्त प्रियादास की 'भक्तमाल' की टीका और 'तुलसी चरित' और 'गोसाईं चरित' में भी मिलता है।

कुछ दिन काशी और फिर अयोध्या मे रह कर ये तीर्थ-यात्रा को निकले और जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम और उसके आगे कैलाश और मानसरोवर तक निकल गये। इस बीस वर्ष के प्रवास के बाद उन्होने चित्रकूट में अपना आश्रम बनाया। सवत् १६३१ मे अयोध्या जाकर 'रामचरित मानस' की रचना इन्होने आरम्भ की जिसे पूरा करने मे दो वर्ष सात महीने लगे। रामायण का कुछ अंश विशेषत· किष्किधा काण्ड काशी मे रचा गया। रामायण की समाप्ति के बाद ये प्राय: स्थिररूप से काशी मे रहने लगे और उस समय तक इनकी कीर्त्ति दूर तक फैल गई थी। अनेक महात्मा और शास्त्राधिकारी विद्वान् इनके पास आया करते थे। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसदन सरस्वती के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ था, जिससे प्रभावित हो कर इनकी स्तुति में इन्होने यह श्लोक कहा :—

आनन्द कानने कश्चिज्जंगमस्तुलसीतरु ।
कविता मञ्जरी यस्य रामभ्रमर भूपिता ॥

इनके प्रशंसको और स्नेहियो मे रहीम खानखाना, महाराज मानसिह, नाभाजी और मधुसूदन सरस्वती आदि कहे जाते है। 'रहीम' से तो इनकी दोहो मे लिखा-पढ़ी चला करती थी। काशी में इनके सबसे बड़े स्नेही और भक्त भदैनी के भूमिहार जमीदार टोडर थे जिनकी मृत्यु पर इन्होने कई दोहे कहे है।

इनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे लोग यह दोहा कहते है :—

सम्वत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

पर बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में दूसरी पंक्ति का रूप यह है :—

श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

अब यही तिथि प्रामाणिक मानी जा रही है और टोडर के वंशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामीजी के नाम पर अन्नदान करते आये हैं।

धार्मिक भावना—हिन्दी-साहित्य के समालोचकों में तुलसीदासजी को रामानन्द के सम्प्रदाय का बैरागी वैष्णव मानने की पद्धति-सी चल पड़ी है; किन्तु इस सम्प्रदाय की शिष्य परम्परा में कहीं भी गोस्वामीजी का नाम नहीं मिलता। गोस्वामीजी हिन्दू धर्म के शास्त्रीय रूप को मानते थे। वर्णाश्रम व्यवस्था के वे अपने समय के सबसे बड़े पोषक थे। वे रामोपासक वैष्णव थे किन्तु रामानन्द पद्धति के नहीं बल्कि स्मार्त पद्धति के। इसीलिए वे सीताराम के भक्त होते हुए भी शंकर-पार्वती के भी भक्त हैं। विनय पत्रिका में उन्होंने प्रायः उन सभी देवी-देवताओं की बंदना की जिन्हें स्मार्त हिन्दू सदैव से मानते चले आ रहे हैं। तुलसी श्रीरामचन्द्रजी की दास्य परम्परा के उपासक हैं और वह परम्परा उनके भीतर इस महान स्थिति को पहुँच चुकी है कि वे केवल श्रीराम के ही दास नहीं, भूतमात्र के दास हैं। कबीर का अहंकार उनके भीतर नहीं है वे तो पद-पद पर अपने को अज्ञानी, मूढ़ और पतित कहते हैं। उनका इस तरह विनीत होना गौरव को और भी अधिक बढ़ा देता है। राम और शिव को एक दूसरे का अनन्य भक्त बनाकर वैष्णव और शैव सम्प्रदाय के पुराने संघर्ष और द्वन्द्व को हमारे समाज से सदैव के लिए निकाल बाहर किया।

भाषा और शैली—गोस्वामी तुलसीदास का प्रादुर्भाव हिन्दी

काव्य-क्षेत्र की सब से महान घटना है। अपनी काव्य-प्रतिभा के व्यापक प्रसार और विवेक के कारण ये हिन्दी काव्य की सब से बड़ी विभूति हैं। हिन्दी काव्य शक्ति का पूर्ण प्रसार न तो इनके पहले था और न इनके बाद हुआ। वीर-गाथा काल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र मे काव्य और भाषा की साधारण रूढ़ि का ही निर्वाह कर रहे थे। भाषा और साहित्य का सस्कार उनकी शक्ति के बाहर था। भक्ति-काल मे भाषा का चालू रूप कुछ आगे तो बढ़ा किन्तु कबीर और नागपथियों के सन्तो ने भाषा और भावो का मनमाना प्रयोग किया। इनका कोई साहित्यिक लक्ष्य न था और वे शिक्षित जनता से दूर-ही-दूर अपना उपदेश झाडा करते थे। भक्तिकाल की सगुण उपासना मे भाव और भाषा दोनो का परिष्कार हुआ। सूरदासजी ने चालू भाषा का ही संस्कार कर ब्रजभापा को मनोरम रूप दिया। किन्तु सूरदासजी का क्षेत्र कृष्ण की बाल-लीला, शृङ्गार और वात्सल्य के आधार पर नितान्त सकुचित था। गोस्वामी तुलसीदासजी का क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उसमे आध्यात्मिक पक्ष के साथ-ही-साथ लोक-पक्ष का भी पूर्णरूप में समावेश हो सका और इसीलिए वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से साहित्य के शास्त्रीय सौन्दर्य और विधान का अपनी दिव्यवाणी मे दिखाकर काव्यक्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। रामचरित मानस की प्रबन्ध-पटुता, प्रकृति वर्णन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, सारे रसो के मनोरम वर्णन के साथ-ही-साथ राजनीति, लोकधर्म और लोक कल्याण की भावना तुलसी की विशेषताये है।

भाषा के क्षेत्र मे भी इनकी क्षमता बहुत बडी है। रामचरित मानस की भापा प्रधानतः अवधी और पूर्वी हिन्दी है, किन्तु इनकी अन्य रचनाओं से अवधी और ब्रज दोनों ही भाषाओं पर समान अधिकार सिद्ध होता है। 'जानकी मगल', 'पार्वती मगल

का ठेठ अवधो, मानस की साहित्यिक अवधी से यह सिद्ध होता है कि उनका सोरो से कोई भी सम्बन्ध नही। अपने मूल स्थान की भाषा पूर्वी अवधी मे ही उन्होंने अपने महान काव्य मानस की रचना की है। 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' में सूर की ब्रजभाषा और भी संस्कृत रूप मे देख पड़ती है। जायसी का केवल अवधी पर और सूर का केवल ब्रजभाषा पर अधिकार था, किन्तु तुलसी का तो जैसे उत्तर भारत की तमाम भाषाओं पर समान अधिकार दिखाई पड़ता है। शास्त्र पारंगत होने के कारण गोस्वामी की अवधी की शब्द योजना साहित्यिक और संस्कृत गर्भित है।

'जन-मन-मंजु-मुकुर-मल हरनी। किए तिलक गुन गन बस करनी॥

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भाषा का मनोरम संस्कार कर उसे जो रूप प्रदान किया वह उनके भावों के साथ नित नूतन, इसलिए सुन्दर है। महाकवि माघ की उक्ति—

'क्षणे क्षणे यन्नवता मुपैति तदेव रूपम् रमणीयतायाः'

इनकी काव्य-कला और भाषा-विभूति पर ठीक-ठीक लागू होती है। रचनायें—रामचरित मानस, विनय-पत्रिका, कविता-वली, गीतावली, दोहावली। रामलला नहछू, रामाज्ञा प्रश्न, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपिनी और कृष्ण गीतावली इनके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

कवि-कर्म

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहि कल कंठ कठोरा॥
हंसहि बक दादुर चातक ही। हँसहि मलिन खल बिमल बतकही॥
कबित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कह सुखद हास रस एहू॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरो। हंसिबे जोग हंसें नहि खोरी॥

प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की ॥
राम भगति भूषित जियँ जानी। सुनिहहि सुजन सराहि सुबानी ॥
कवि न होउँ नहि बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू ॥
आखर अरथ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना ॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा ॥
कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥
दो०—भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो विचारि सुनिहहि सुमति जिन्हके विमल बिबेक ॥१॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥
भनिति विचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ ॥
बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी ॥
सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी ॥
सादर कहहि सुनहि बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ॥
जदपि कबित रस एकउ नाही। राम प्रताप प्रगट एहि माही ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा ॥
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगध बसाई ॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी ॥
छं०—मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की ॥
प्रभु सुजस संगित भनिति भली होइहि सुजन मनभावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी ॥२॥
दो०—प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ बंदिग मलय प्रसंग ॥३॥
स्याम सुरभि पय विसद अति गुनत करहि सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहि सुनहि सुजान ॥४॥

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥
भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥
कबि कोबिद असि हृदय बिचारी। गावहिं हरि जस कलि मल हारी॥
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥
हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥

दो०—जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥ ५॥

निषाद-निष्ठा

सई तीर बसि चले बिहाने। सृंगबेर पुर सब नियराने॥
समाचार सब सुने निषादा। हृदय बिचार करइ सविषादा॥
कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी॥
भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंकु अब जीवन हानी॥
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतन हारा॥
का आचरज भरत अस करहीं। नहिं बिषबेलि अमिय फल फरहीं॥

दो०—अस बिचारि गुहँ ग्याति सन कहेउ सजग सब होहु।
हथवाँसहु बोरहु तरनि कीजिअ घाटा रोहु॥ १॥

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जियत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनुभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़े भाग अस पाइअ मीचू॥

स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥
साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महिभारू। जननी जौबन बिटप कुठारू॥
दो०—बिगत बिषाद निषाद पति सबहि बढ़ाइ उछाहु।
सुमिरि राम मांगेउ तुरत तरकस धनुष सनाहु॥ २॥
बेगहु भाइहु सजहु सँजोऊ। सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ॥
भलेहि नाथ सब कहहि सहरषा। एकहि एक बढ़ावइ करषा॥
चले निषाद जोहारि जोहारी। सूर सकल रन रूचइ रारी॥
सुमिरि राम पद पकज पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनही॥
अँगरी पहिरि कूड़ि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥
एक कुसल अति ओड़न खाँड़े। कूदहि गगन मनहुँ छिति छाँड़े॥
निज निज साजु समाजु बनाई। गुह राउतहि जोहारे जाई॥
देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने॥
दो०—भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि।
सुन सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि॥ ३॥
राम प्रताप नाथ बल तोरे। करहि कटकु बिनु भट बिनु घोरे॥
जावत पाउ न पाछे धरहीं। रुन्ड मुन्ड मय मेदिनि करहीं॥
दीख निषाद नाथ भल टोलू। कहेऊ बजाउ जुझाऊ ढोलू॥
एतना कहत छीक भइ बाँए। कहउ सुगनिअन्ह खेत सुहाए॥
बूढ़ एक कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिय न होइहि रारी॥
रामहि भरतु मनावन जाही। सगुन कहिइ अस बिग्रह नाही॥
सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहि बिमूढ़ा॥
भरत सुभाउ सीलु बिनु बूझे। बड़ि हित हानि जानि बिनु जूझे॥
दो०—गहहु घाट भट समिटि सब लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति तस तब करिहउँ आइ॥ ४॥
लखब सनेहु सुभाय सुहाए। बैरु प्रीति नहि दुरइँ दुराए॥

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कन्द मूल फल खग मृग माँगे ॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥
मिलन साजु सजि मिलन सिधाए। मंगल मूल सगुन सुभ पाए ॥
देखि दूरि तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू ॥
जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाय मुनीसा ॥
राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा ॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई ॥
दो०—करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेट भइ प्रेमु न हृदय समाइ ॥ ५ ॥

लक्ष्मण का रोष

छं०—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भए।
नभ धूरि खग मृग भूरि आगे बिकल प्रभु आश्रम गए ॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे ॥१॥
सो०—सुनत सुमंगल बैन मन प्रमोद तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन तुलसी भरे सनेह जल ॥२॥

बहुरि सोच बस भे सिय रमनू। कारन कवन भरत आगमनू ॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी ॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितु बच उत बंधु सकोचू ॥
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं। प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं ॥
समाधान तब भा यह जाने। भरतु कहे महुँ साधु सयाने ॥
लखन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू। कहत समय सम नीति बिचारू ॥
बिनु पूछें कछु कहउँ गोसाईं। सेवकु समय न ढीठ ढिठाई ॥
तुम सर्वग्य सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ॥
दो०—नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान ॥ ३ ॥

विषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहिं जनाई॥
भरतु नीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेम सकल जगु जाना॥
तेऊ आजु राज पदु पाई। चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू। आये करै अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि दोउ भाई॥
जौं जियँ होत न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥
भरतहि दोसु देइ को जाए। जग बौराइ राज पदु पाए॥

दो०—ससि गुरु तिय गामी नहुष चढ़ेउ भूमि सुर जान।
लोक बेद तें विमुख भा अधम न बेन समान॥ ४॥

सहस बाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ॥
एक कीन्ह नहिं भरत भलाई। निदरे रामु जानि असहाई॥
समुझि परिहि सोइ आजु बिसेषी। समर सरोष राम मुख पेखी॥
एतना कहत नीति रस भूला। रन रस बिटपु पुलक मिस फूला॥
प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सहज सत्य बलु भाषी॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहि उपचार न थोरा॥
कहँ लगि सहिय रहिय मनु मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे॥

दो०—छत्रि जाति रघुकुल जनमु राम अनुज जग जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर, नीच को धूरि समान॥ ५॥

उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि माथा। साजि सरासनु सायकु हाथा॥
आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोऊ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलई मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥

तैसेहि भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जौं सहाय कर संकरु आई । तौ मारउँ रन राम दुहाई ॥
दो०—अति सरोष माखे लखन लखि सुनि सपथ प्रमान ।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान ॥ ६ ॥
जगु भय मगन गगन भइ बानी । लखन बाहुबलु बिपुल बखानी ॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा । को कहि सकइ को जानन हारा ॥
अनुचित उचित काजु किछु होऊ । समुझि करिय भल कह सब कोऊ ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं । कहहि बेद बुध ते बुध नाहीं ॥
सुनि सुर बचन लखन सकुचाने । राम सीयँ सादर सनमाने ॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई । सब ते कठिन राजमदु भाई ॥
जो अचवँत नृप मातहि तेई । नाहिन साधु सभा जेहि सेई ॥
सुनहु लखन भल भरत सरीसा । बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥
दो०—भरतहि होय न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ ॥ ७ ॥
तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई । गगनु मगनु मकु मेघहि मिलई ॥
गोपद जल बूड़हि घट जोनी । सहज छमा बरु छाड़ै छोनी ॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई । होइ न नृपमदु भरतहि भाई ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबंधु नहि भरत समाना ॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता । मिलइ रचइ परपंचु बिधाता ॥
भरतु हंस रबिबंश तड़ागा । जनमि कीन्ह गुनदोष बिभागा ॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी । निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ । प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ ॥
दो०—सुनि रघुबर बानी बिबुध देखि भरत पर हेतु ।
सकल सराहत राम सो प्रभु को कृपा निकेतु ॥ ८ ॥
जौं न होत जग जनम भरत को । सकल धरम धुरि धरनि धरत को ॥
कबि कुल अगम भरत गुन गाथा । को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥
लखन राम सिय सुनि सुर बानी । अति सुख लहेउ न जाय बखानी ॥

इहाँ भरतु सब सहित सहाए। मंदाकिनी पुनीत नहाए ॥
सरित समीप राखि सब लोगा। माँगि मातु गुरु सचिव नियोगा ॥
चले भरतु जहँ सिय रघुराई। साथ निषाद नाथ लघु भाई ॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं ॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥
दो०—मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ॥ ६ ॥

चित्रकूट में भरत

सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लखन सघन बन ओटा ॥
भरत दीख प्रभु आश्रम पावन। सकल सुमंगल सदनु सुहावन ॥
करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथु पावा ॥
देखे भरत लखन प्रभु आगे। पूँछे बचन कहत अनुरागे ॥
सीस जटा कटि मुनि पट बाँधे। तून कसे कर सरु धनु काँधे ॥
बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू ॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा ॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥
दो०—लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंद।
ग्यान सभाँ जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंद ॥ १ ॥
सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन ॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं ॥
बचन सप्रेम लखन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जियँ जाने ॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोरा ॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लखन मन की गति भनई ॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥
उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥

दो०—बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥ २ ॥
मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी ॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती ॥
मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुर गन सभय धुकधुकी धरकी ॥
समुझाये सुर-गुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे ॥
दो०—मिलि सप्रेम रिपु सूदनहि केवटु भेंटेउ राम।
भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम ॥ ३ ॥
भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई ॥
पुनि मुनि गन दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सियपद पदुम परागा ॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए ॥
सीयँ असीस दीन्ह मन माहीं। मगन सनेहँ देह सुधि नाहीं ॥
सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता ॥
कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा ॥
तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि ॥
दो०—नाथ साथ मुनि नाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिप सब आए बिकल बियोग ॥ ४ ॥
सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू। सिय समीप राखे रिपु दवनू ॥
चले सबेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीनदयाला ॥
गुरुहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे ॥
मुनिवर धाइ लिये उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई ॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू ॥

राम सखा रिषि बरबस भेटा। जनु महि लुठत सनेह समेता ॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरसहि फूला ॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहि। बड़ बशिष्ठ सम को जग माहीं ॥
दो०—जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीता पति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥ ५ ॥
आरत लोग राम सबु जाना। करुना कर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी ॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुखु दारुन दाहू ॥
यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं ॥
मिलि केवटहि उमगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहि भागा ॥
देखि राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि अवली हिम मारी ॥
प्रथम राम भेटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई ॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी ॥
दो०—भेटी रघुबर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अब ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु ॥ ६ ॥
गुरतिय पद बंदे दुहु भाई। सहित बिप्र तिय जे सँग आई ॥
गंग गौरि सम सब सनमानी। देहिं असीस मुदित मृदु बानी ॥
गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेटी सम्पति अति रंका ॥
पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता ॥
अति अनुराग अंब उर लाए। नयन सनेह सलिल अन्हवाए ॥
तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहै मूक जिमि स्वादू ॥
मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुरु सन कहेउ कि धारिय पाऊ ॥
पुरजन पाइ मुनीस नियोगू। जल थल तकि तकि उतरेउ लोगू ॥
दो०—महिसुर मंत्री मातु गुरु गने लोग लिये साथ।
पावन आश्रम गवनु किय भरत लखन रघुनाथ ॥ ७ ॥
सीय आइ मुनिवर पग लागी। उचित असीस लही मन भागी ॥
गुरु पतिनिहि मुनि तियन्ह समेता। मिली प्रेमु कहि जाइ न जेता ॥

बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिस बचन लहे प्रिय जी के ॥
सासु सकल जब सीय निहारी। मूदे नयन सहमि सुकुमारी ॥
परी बधिक बस मनहुँ मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली ॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सब सहिय जो दैव सहावा ॥
जनक सुता तब उर धर धीरा। नील नलिन लोचन भरि नीरा ॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई ॥
दो०—लागि लागि पग सबनि सिय भेटति अति अनुराग।
हृदय असीसहि प्रेम बस रहियहु भरी सोहाग ॥ ८ ॥

भरत-भक्ति

राम मातु गुरु पद सिरु नाई। प्रभु पद पीठ रजायसु पाई ॥
नंदिगाँव करि परन कुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा ॥
जटा जूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी ॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा ॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी ॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई। दशरथ धनु सुनि धनद लजाई ॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥
दो०—राम प्रेम भाजन भरतु बड़े न एहि करतूति।
चातक हंस सराहियत टेक बिबेक बिभूति ॥ १ ॥
देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई ॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मन न मलीना ॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥
सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी। स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी ॥
राम प्रेम बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा ॥
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं ॥

दो०—नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
माँगि माँगि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सबु लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥
परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महा मोह निसि दलन दिनेसू॥
पाप पुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥
छं०—सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥३॥

बन-पथ पर

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच बिलोकहु री सखी! मोहि सी ह्वै।
मग जोग न, कोमल क्यों चलि है? सकुचात मही पदपंकज छ्वै॥
तुलसी सुनि ग्राम बधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥१॥
साँवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मैन लियो है।
बान कमान निषंग कसे, सिर सोहैं जटा मुनि बेष कियो है॥
संग लिये बिधु बैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो है।
पाँयन तौ पनही न, पयादेहि क्यों चलि हैं? सकुचात हियो है॥२॥
रानी मैं जानी अयानी महा, पबि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।
राज हु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है।

ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है ?
आँखिन मे सखि ! राखिबे जोग, इन्हे किमि के बनवास दियो है ॥३॥
पद कोमल, स्यामल गौर कलेवर, राजत कोटि मनोज लजाए।
कर बान सरासन सीस जटा, सरसीरुह लोचन सोक सुहाए ॥
जिन देखे, सखी ! सत भायहुँ ते तुलसी तिन तौ मन फेरि न पाये।
यहि मारग आजु किसोर बधू बिधु बैनी समेत सभाय सिधाये ॥४॥
मुख पंकज, कंज बिलोचन मंजु, मनोज सरासन सी बनी भौहैं।
कमनीय कलेवर, कोमल स्यामल गोर किसोर, जटा सिर सोहैं ॥
तुलसी कटि तून, धरे धनु बान, अचानक दीठि परी तिरछोहैं।
केहि भाँति कहौं, सजनि ! तोहि सो मृदु मूरति द्वै निबसी मन मोहैं॥५॥
प्रेम सो पीछे तिरीछे प्रियाहि चितै चितु दै, चले लै चित चोरे।
स्याम शरीर पसेऊ लसै, हुलसै तुलसी छबि सो मन मोरे ॥
लोचन लोल चलैं भ्रकुटी, कल काम-कमानहु सो तृन तोरे।
राजत राम कुरग के सग, निषंग कसे, धनुसों सर जोरे ॥६॥
सर चारि* चारु बनाइ कसे कटि पान सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरै मृगया, तुलसी छवि सो बरनै किमि कै ?
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चोंकि चकै चितवै चित दै।
न डगै, न भगै जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है ॥७॥
बिध्य के बासी उदासो तपोब्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे ॥
ह्वै है सिला सब चंद्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे ॥८॥

लङ्का-दहन

लाइ लाइ आगि भागे बाल-जाल जहाँ तहाँ,
लघु ह्वै निबुकि गिरि मेरु तें बिसाल भो।

कौतुकी कपीस कूदि कनक-कँगूरा चढ़ि,
रावन भवन जाइ ठाढ़ा तेहि काल भो।
तुलसी बिराज्यो व्योम बालधी पसारि भारी;
देखे हहरात भट काल तें कराल भो।
तेज को निधान मानो कोटिक कृसानु भानु,
नख बिकराल मुख तैसो रिस-लाल भो ॥ १ ॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौ,
लंक लीलिबे को काल रसनापसारी है।
कैधों व्योम बीथिका भरे हैं भूरिधूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेश-चाप कैधों दामिनी कलाप,
कैधों चली मेरु तें कृसानु-सरि भारि है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
"कानन उजारयो अब नगर प्रजारी है" ॥ २ ॥

देखि ज्वाल-जाल, हाहाकार दसकंध सुनि,
कह्यो 'धरो धरो' धाए बीर बलवान हैं।
लिये सूल, सेल, पास, परिध, प्रचंड दंड,
भाजन सनीर, धीर धरे धनुबान हैं।
तुलसी समिध सौंज लंक-यज्ञकुण्ड लखि,
जातुधान पुंगीफल, जव, तिल धान हैं।
स्रुवा सो लँगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि,
स्वाहा महा हाँकि हाँकि हुनै हनुमान हैं ॥ ३ ॥
रावन की रानी जातुधानी बिलखानी कहै,
"हा हा! कोऊ कहै बीस बाहु दस माथ सों।
काहे मेघनाद, काहे काहे, रे महोदर! तू,
धीरज न देत लाइ लेत क्यों न हाथ सों?

काहे अतिकाय अतिकाल काहे काहे रे अकंपन,
अभागे तीय त्यागे भोड़े भागे जात साथ सो।
तुलसी बढ़ाय बादि साल ते बिसाल बाहे,
याही बल, बालिसो! बिरोध रघुनाथ सो" ॥ ४ ॥

इहाँ ज्वाल जरे जात, उहाँ ग्लानि गरे गात,
सूखे सकुचात सब कहत पुकार है।
"जुग-पट भानु देखे, प्रलय-कृसानु देखे,—
सेषमुख अनल बिलोके बार बार है ॥
तुलसी सुन्यो न कान ललित सर्पी समान,
अति अचरज कियो केसरी कुमार है"।
बारिद बचन सुनि धुनै सीस सचिवन्ह,
कहै "दससीस ईस बामता बिकार है" ॥ ५ ॥

पान, पकवान विधि-नाना को, सँधानो, सीधो,
बिबिध बिधान धान बरन बखारही।
कनक किरीट कोटि, पलँग, पेटारे, पीठ,
काढ़त कहार, सब जरे भरे भारही ॥
प्रबल अनल बाढ़ै, जहाँ काढ़ै तहाँ डाढ़ै,
झपट लपट भरे भवन भँडार ही।
तुलसी अगार न पगार न बजार बाच्यो,
हाथी हथिसार जरे, घोरे घोरसारही ॥ ६ ॥

रावन सो राजरोग बाढत बिराट उर,
दिन दिन बिकल सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न बिसोक ओत पावै न मनाक सो ॥
राम की रजाय तें रसायनी समीर सून,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।

जातुधान बुट. पुटपाट लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगाङ्क सो ॥ ७ ॥

विनय

बावरो रावरो नाह, भवानी ।
दानि बड़ो दिन, देत दए बिनु, बेर-बड़ाई भानो ॥
निज घर की घरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी ।
सिव की दई संपदा देखत श्री सारदा सिहानी ॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी ।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयो नकबानी ॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिए औरहि, भीख भली मैं जानी ॥
प्रेम-प्रसंसा-विनय-व्यंग-जुत सुनि बिधि की बर बानी ।
तुलसी मुदित महेस, मनहिं मन जगत मातु मुसुकानी ॥ १ ॥

जय जय भगीरथ नंदिनि, मुनिचय-चकोर चंदिनि;
नर-नाग-विबुधनंदिनि, जय जह्नु बालिका ।
विष्णु पद सरोज जासि, ईस-सास पर बिभासि,
त्रिपथ गासि, पुन्यरासि, पापछालिका ।
विमल विपुल बहसि बारि, सीतल त्रय ताप हारि,
भँवर वर, बिभंगतर तरंग मालिका ॥
पुरजन-पूजोपहार सोभित ससि-धवल धार,
भजनि-भव भार, भक्ति कल्प-थालिका ।
निज तट बासी बिहंग, जल-थलचर पसु पतंग,
कीट, जटिल तापस सब सरिस पालिका ॥
तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुवंश बीर,
विचरत मति देहि मोह-महिप-कालिका ॥ २ ॥

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की ॥
धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥
ज्यों गच-काँच विलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसार आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की ।
तुलसीदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥३॥

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं ॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर तें न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं ॥
बरबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन-मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं ॥ ४ ॥

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटइ न, मरइ भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ॥
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तानि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥ ५ ॥

———

आचार्य केशवदास

सनाढ्य ब्राह्मण काशीनाथ के पुत्र आचार्य केशवदास का जन्म संवत् १६१२ में ओड़छा में हुआ था। ओड़छा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह इनके प्रशासक और आश्रयदाता थे। इनके वंश में परम्परा से संस्कृत के विद्वान होते आये थे। ऐसे वातावरण में ये अपने समय की शास्त्रीय पद्धति के प्रधान कवि कहे गये। इनके पहले ही कवियों का ध्यान रस, अलंकार तथा अन्य काव्यांगों के निरूपण की ओर लग चुका था। काव्य रचना अधिक मात्रा में हो चुकी थी इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक था। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण शास्त्रीय पद्धति के भाषा में काव्य-रचना की ओर केशवदास का झुकाव हुआ।

भाषा बोल न जानहीं जिनके घर को दास।
ता मह कविता करत है जड़मति केशवदास॥

कह कर इन्होंने अपनी स्थिति साफ करदी है। विद्वानों की मण्डली में भाषा का अभी उतना आदर न हो सका था, विशुद्ध साहित्यकार के लिए अभी संस्कृत का द्वार खुला था। केशवदास ने भाषा को अपना कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। इनकी मृत्यु संवत् १६७४ के लगभग हुई।

काव्यगुण—केशवदास काव्य मे अलंकार और चमत्कारपूर्ण कौशल को सर्वप्रधान मानते थे इन्होने कहा भी है :—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न बिराजई कविता, बनिता-मित्त ॥

अपनी इस धारणा के अनुसार इन्होंने भामह, उद्भट और दण्डी आदि संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस, रीति सब कुछ अलंकार के भीतर मानते थे। साहित्यशास्त्र मे 'रस' को प्रधानता देने वाले अधिक सफल और मान्य मम्मट और विश्वनाथ का नहीं।

केशव को कवि हृदय की अनुभूति नही थी। सहृदयता और सहानुभूति का पूरा भाग उन्हें नहीं मिला था। संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर वे अपने पाण्डित्य का आतंक जमाना चाहते थे। अपनी रचनाओ मे उन्होंने जगह-जगह संस्कृत काव्य उक्तियाँ लेकर शाब्दिक अनुवाद भर कर दिया है। उनमे भी वे मूल का-सा काव्य रस नही पैदा कर सके। जैसा प्रसन्नराघव के "प्रियतम पदै रङ्कतान् भूमि भागाः" को "प्यौ-पद पकजऊपर" बनाकर बिल्कुल विकृत कर दिया है।

केवल पाण्डित्य से प्रकृत काव्य की रचना नहीं हो सकती, इनकी 'रामचन्द्रिका' इसका प्रमाण है। श्रीराम के जिस कथानक के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास 'रामचरित मानस' जैसा महान् काव्य लिख सके, उसी कथा को इन्होने रामचन्द्रिका में लिया किन्तु उसमे यह कोई भी मार्मिक और महत्वपूर्ण स्थल नही पैदा कर सके। कथा मे कौन से स्थल हृदयस्पर्शी हो सकते थे उस ओर इनका ध्यान गया ही नहीं। बनपथ पर राम को देख कर रास्ते भर लोग तुलसी की रचनाओ मे विभोर होते गये है वही केसव को क्या सूझता है ?

"किधा मुनिशाप हत, किधा ब्रह्मदोष रत, किधौ कोऊ ठगहो"
सहानुभूति के अभाव मे कोरी पण्डिताई का यह रूप है। प्रकृति वर्णन मे भी केशवदास सफल नही हो सके। कारण यह कि कालिदास ने प्रकृति का जो मनोहर वर्णन किया है वह पद्धति के किसी अंश तक भवभूति तक तो चली उसके बाद वर्णन काव्य सिद्धान्तो को लेकर रूढ़ि हो गये। केशव भी उसी पाण्डित्य-पद्धति के थे, इसलिए प्रकृति के विभिन्न रूपो और अनुभूतियो के लिये उनके हृदय मे स्थान नही बन सका। प्रबन्ध काव्य-रचना के योग्य न तो उनमे शक्ति थी न अनुभूति। काव्य रूढ़ियो का निर्वाह मात्र वह जानते थे। जैसे सेना संचालन, युद्ध, उपवन, राज-सभा की तड़क-भड़क रति, प्रेम इत्यादि, इसलिए उनकी व्यजना न तो स्वाभाविक है और न रोचक। तुलसी की तरह उनके भीतर काव्य-विवेक का कोई स्थान नही था। वह तो काव्य बुद्धि या रूढ़ि-बुद्धि लेकर चलना जानते थे। इसलिए तुलसी के भीतर कला है तो केशव के भीतर कौशल। कला स्वाभाविक और मनुष्य के गहरे हृदय से निकलती है और जहाँ बुद्धि को ठोक-पीट कर काम लिया जाता है वहाँ पैदा होता है कौशल।

लेकिन यह सब होते हुए भी केशव का स्थान काव्य-साहित्य मे ऊँचा है। रीति-काव्य के जन्मदाता के रूप मे वे सदैव रहेगे। लालित्य के अभाव मे भी इनके काव्य मे अर्थ-गौरव है। सस्कृत के प्राय: सभी छन्दो का प्रयोग कर भाषा के पिंगल का इन्होने विस्तार किया। संस्कृत के काव्यो और नाटको से पूरे परिचित होने के कारण रामचन्द्रिका के संवाद उत्तेजक और रोचक है। गोस्वामी तुलसीदास के बाद संवाद-रचना मे एक मात्र इन्हे ही स्थान मिल सकता है। काव्य-रस की कमी 'रामचन्द्रिका' मे है किन्तु इसमे काव्य-सम्बन्धी जानकारी इतनी अधिक है कि पाठक का जी नही उचटता।

भाषा और शैली—भावो की अभिव्यंजना स्वाभाविक रूप में न होने के कारण इनकी शैली दुरुह और जटिल होगई है, किन्तु ओज और शक्ति जो इनकी रचना मे है वह और कही नहीं। 'रामचन्द्रिका के पढ़ते समय मन मे स्फूर्ति जाग उठती है और धमनियो मे रक्त का प्रवाह तेज़ पड़ता जाता है। छन्दो का प्रवाह सब कही वेगवान है, शिथिलता नहीं मिलती। कही-कही रस का परिपाक भी विस्मयजनक हो उठा है। भाषा पर इनका अधिकार असाधारण है, शब्द चातुरी, वाग्वैचित्र्य, श्लेषात्मक प्रयोगो की सफलता इनकी भाषा की विशेषताएँ है। इनकी भाषा मे प्रसाद गुण की तो कमी है किन्तु शब्दों का रूप इन्होने बिगाड़ा नहीं। इनकी पाण्डित्यपूर्ण शैली के कारण इनकी भाषा मे क्लिष्टता आगई है।

रचनायें—रामचन्द्रिका, प्रबन्ध काव्य।

रसिक प्रिया } लक्षण ग्रन्थ
कवि प्रिया }

वीरसिह देव चरित्र }
जहाँगीर जस-चन्द्रिका } स्फुट-रचनाये।
विज्ञान-गीता }

धनुष भङ्ग

खण्ड परशु को शोभिजै सभा मध्य कोदण्ड।
मानहु शेष अशेष घर धरनहार बरिबण्ड॥

शोभित मंचन की अवली गजदंतमयी छबि उज्ज्वल छाई।
ईस मनो बसुधा मे सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जोन्हाई॥
तामहँ 'केशवदास' विराजत राजकुमार सबै सुखदाई।
देवन स्यौ जनु देवसभा सुभ सीय-स्वयंवर देखन आई॥

सभा मध्य गुण-ग्राम, बंदी सुत द्वै शोभही ।
सुमति विमति यहि नाम, राजन को वर्णन करहि ॥
सुमति—को यह निरखत आपनी, पुलकित बाहु विशाल ।
सुरभि स्वयंवर जनुकरी, मुकुलित शाख रसाल ॥
विमति—जेहि यश परिमल मत्त, चंचरीक चारण फिरत ।
दिशि विदिशन अनुरक्त, सुतौ मल्लिका-पीड़-नृप ॥
सुमति—कुंडल परस्न मिस कहत, कहौ कौन यह राज ।
शंभु शरासन गुण करौ, करणालंबित आज ॥
विमति—जानहि बुद्धि निधान, मत्स्यराज यहि राज को ।
समर समुद्र समान, जानत सब अवगाहि कै ॥
सुमति—अंगराग रंजित रूचिर, भूषण भूषित देह ।
कहत विदूषक सो कछू, सो पुनि को नृप एह ॥
विमति—चंदन चित्रत अंग, सिधुराज यह जानिये ।
बहुत वाहिनी संग, मुकुता-माल विशाल उर ॥
सिगरे राज समाज के, कहे गोत गुण-ग्राम ।
देश स्वभाव प्रभाव अरु, कूल बल विक्रम नाम ॥
कह्यौ विमति यह टेरि, सकल सभाहि सुनाय कै ।
चहूँ ओर कर फेरि, सब ही को समुझाय कै ॥

कोउ आजु राज समाज में बल शंभु को धनुकर्षि है ।
पुनि श्रौण के परिमाण तानि सो चित्त में अतिहर्षि है ॥
वह राज होइ कि रंक 'केशवदास' सो सुख पाइ है ।
नृप कन्यका यह तासु के उर पुष्प मालहि नाइ है ॥

दिगपालन की भुव पालन की लोक पालन की किन मातु गई च्वै ।
कत भाँड़ भये उठि आसनते कहि 'केशव' शंभु शरासन को छ्वै ॥
अरु काहू चढ़ायो न काहू नवायो न काहू उठायो न आँगुरहू द्वै ।
कछु स्वारथ भी न भयो परमारथ आये ह्वै वीर चले वनिता ह्वै ॥

जनक—ये सुत कौन के सोभहि साजे ? सुदरस्यामल गौर बिराजे ॥
जानत हौ जिय साद^र दोऊ । कै कमला बिमलापति कोऊ

विश्वामित्र—दानिन के सील, पर दान के प्रहारी दिन,
दानवारि ज्यों निदान देखिये सुभाय के ।
दीप दीपहू के अवनीपन के अवनीप,
पृथुसम केसोदास दास द्विज गाय के ॥
आनँद के कंद सुरपालक-से बालक ये,
परदार प्रिय साधु मन-बच-काय के ।
देह धर्म धारी पै विदेहराज जू से राज,
राजत कुमार ऐसे दसरथ राय के ॥
रघुनाथ सरासन चाहत देख्यो ।
अति दुस्कर राज समाजनि लेख्यो ॥

जनक—ऋषि है वह मदिर-माँझ मँगाऊँ ?
गहि ल्यावहि हौं जन जूथ बुलाऊँ ?
वज्र ते कठोर है कैलास ते विसाल-काल,
दड ते कराल सब काल काल गावई ।
'केशव' त्रिलोक के बिलोकि हारे देव सब,
छोड़ि चन्द्र चूड़ एक और को चढ़ावई ?
पन्नग प्रचंड पति प्रभु की पनच पीन,
पर्बतारि पर्वत प्रभा न मान पावई ।
विनायक एकहू पै आवै ना पिनाक, ताहि,
कोमल कमल पानि राम कैसे ल्यावई ?

विश्वामित्र—राम हत्यो मारीच जेहि अरु ताड़का सुबाहु ।
लक्ष्मन को यह धनुष दै तुम पिनाक को जाहु ॥

जनक—सिगरे नर-नायक-असुर-विनायक राच्छसपति हिय हारि गये ।
काहू न उठायो थल न छोड़यो टर्यो टारो भीत भये ॥

इन राजकुमारनि अति सुकमारनि लै आये हौ पेज करें।
व्रतभंग हमारो भयो तुम्हारो ऋषि तप तेज न जानि परै ॥

विश्वामित्र—सुनि रामचंद्र कुमार, धनु आनिये एहि बार।
पुनि बेगि ताहि चढ़ाउ, जस लोक-लोक बढ़ाउ ॥

× × × ×

ऋषिहि देखि हरषै हियो, राम देखि कुँभिलाय।
धनुष देखि डरपै महा, चिन्ता चित्त डोलाय ॥
रामचंद्र कटि सो पटु बाँध्यो, लीलयैव हर को धनु साध्यो।
नेकु ताहि कर-पल्लव सोछ्वै, फूल-मूल जिमि टूक कर्यो द्वै ॥
उत्तम गाथ सनाथ जबै धनु श्री रघुनाथ जू हाथ कै लीनो।
निर्गुन ते गुनवंत कियो सुख केसव संत असंतन दीनो ॥
खैंच्यो जहीं तबही कियो संजुत तिच्छ कटाच्छ नराच नवीनो।
राजकुमारि निहारि सनेह सौं संभु को साँचो सरासन कीनो ॥

प्रथम टकोर झुकि झारि संसार मद,
चंड कोदंड रह्यो मंडि नवखंड को।
चालि अचला अचल घालि दिगपाल बल,
पालि रिसिराज के वचन परचंड को ॥
सोधु दै ईस को बोध जगदीस को,
क्रोध उपजाय भृगुनंद बरिबंड को।
बाधि वर स्वर्ग को साधि अपबर्ग,
धनुभंग को सब्द गयो भेदि ब्रह्मंड को ॥
[**रामचन्द्रिका**]

चपला यह मोर किरीट लखै मघवा धनु सोम बढ़ावत हैं।
मृदु गावत आवत बेनु बजावत मित्र मयूर नचावत हैं ॥
उठि देखि भटू भरि लोचन चातक चित्त की ताप बुझावत हैं।
घनस्याम घने घन-बेस धरे जु बने बनते ब्रज आवत हैं ॥

सखि सोहत गोप-सभा महँ गोबिद बैठे हुते दुति को धरिकै।
जनु 'केशव' पूरनचंद्र लसै चित्त चारु चकोरन को हरिकै॥
तिन को उलटो करि आन दियो केहु नीरज नीर नयो भरिकै।
कहि काहे ते नेकु निहारि मनोहर फेरि दियो कलिक करिकै?

[रसिक प्रिया]

जो हौं कहौं रहिये, तो प्रभुता प्रकट होत,
चलन कहौं, तो हित हानि नाहि बहनो।
भावै सो करहु, तो उदास भाव प्राननाथ,
साथ लै चलहु, कैसे लोकलाज सहनो॥
केसौराय की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाही आज रहनो।
तैसिये सिखाओ सीख तुमही सुजान पिय,
तुमरे चलत मोहि जैसो कछू कहनो॥

कहै दमयंती, इंदुमती रति? राति दिन,
होहि न छबीली छिन छबि जो सिंगारिये
'केशव' लजात जलजात जात बेद ओप,
जातरूप बापुरो बिरूप सो निहारिये॥
मदन निरूप बहुरूप तौ निरूप भये,
चंद बहुरूप अनरूपक बिचारिये।
सीताजू के रूप पर देवता कुरूप हो है,
रूपहू को रूपक लै वारि वारि डारिये॥

[कवि प्रिया]

सेनापति

कविवर सेनापति का जन्म संवत् १६४६ में अनूपशहर में हुआ था। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर दीक्षित और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। आरम्भ में सम्भवतः किसी मुसलमान सरदार के आश्रय मे रहे, किन्तु बाद को उन्हे इससे ग्लानि पैदा हुई और जैसा कि 'शिवसिह सरोज' मे मिलता है उन्होने क्षेत्र सन्यास ले लिया। इनकी विरक्ति की पुष्टि इनके कथन से इस प्रकार होती हैः—

'चारिबरदानि तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक म्लेच्छन के काहे को कहाइये।'

अथवा यह भी सम्भव है कि मुसलमान के आश्रय मे रहने से उनके जातीय गौरव को धक्का लगा हो और उन्होने उसे छोड़कर इस पद की रचना की हो। सॉसारिक झंझटो के उनका चित्त उचट गया था और उनकी कामना भक्ति की ओर झुक रही थीः —

आवै मन ऐसी घर बार परिवार तजौ,
डारौं लोक लाज कै समाज विसराय कै।
हरिजन पुञ्जनि मे, वृन्दावन कुञ्जनि मे,
रहौ बैठि कहूँ तरुवर तर जाय कै॥

लेकिन इस कवित्त के 'वृन्दावन' से यह नहीं कहा जा सकता कि ये वृन्दावन मे रहते थे या कृष्ण के उपासक थे। इनके कवित्तों

के 'सीतापति', 'राम' आदि नामों से यही कहा जा सकता है कि ये श्रीराम के उपासक थे।

सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जा की,
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।

इस प्रकार सेनापति की काव्य-रचना श्रीराम की कृपा का फल है, इनका यहि विश्वास है।

काव्य-गुण—सेनापति स्वाभाविक और सहृदय कवि थे। ऋतु-वर्णन के सब से बड़े कवि, हिन्दी काव्य साहित्य मे ये माने जाते है। इनका प्रकृति निरीक्षण इतना असाधारण और सत्य है कि प्रकृति के जिस अंग का यह वर्णन करते हैं वह जैसे पाठक के सामने आकर खड़ा हो जाता है। अपने समय के यह बडे भावुक और निपुण कवि थे। केशवदास की तरह इनके काव्य मे कृत्रिमता नही आने पाई। यह जो कुछ कहते थे; स्वाभाविक, मनोरञ्जक और हृदयग्राही होता था। रामचरित सम्बन्धी इनके कवित्त गोस्वामी तुलसीदास की निष्ठा का स्वाद देते है, उनमे इनका कवि-हृदय और भक्त-हृदय दोनो देखा जा सकता है। इनके भक्ति प्रेरित उद्‌गार विश्वास और चमत्कार के गुणो से ओत-प्रोत है। आराध्य देव के प्रति सूर का उपालम्भ और तुलसी की तल्लीनता इनकी कविताओ में मिलती हैं।

"आपने करम करि हौ ही निबहौंगो तौ तो,
हौ ही करतार करतार तुम काहे के ?"

यह प्रसिद्ध कवित्त इन्ही की रचना है।

भाषा और शैली—इनका पद-विन्यास ललित है। यमक और श्लेष का चमत्कार पूर्ण किन्तु स्वाभाविक निर्वाह इनकी विशेषता है। इनकी गर्वोक्तियाँ खटकने वाली नही, आनन्द देने वाली हैं। इनकी कविता मार्मिक है और सहानुभूति के रस से कवित्त के

प्रत्येक पद मे कोमलता और मधुरता पैदा हो गई है। कविता-चोरो के भय से हर कवित्त मे इन्होने अपना नाम दिया है। इन्हें हर छन्द में अपना नाम देना था, इसलिए कवित्त छोड़कर कोई भी दूसरा छन्द यह नही अपना सके। इनका नाम कवित्त मे ही आसानी से बैठ सकता था। मुक्तक लिखने वाले कवियों में सेनापति का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके कवित्तो मे स्वाभाविकता और कल्पना के संयोग मे वाग्वैचित्र्य उच्चकोटि का है।

इनकी भाषा शुद्ध व्रज है। पद-पद में अलंकारो के भार से झुकी हुई होने पर भी वह प्रसाद गुण सम्पन्न और स्वाभाविक है। षट-ऋतु वर्णन और भक्ति की उक्तियो मे इनकी भाषा कही तो प्रकृतिमयी और कही भक्तिमयी है। भाषा और भाव दोनों ही मे इन्होंने तुलसी के 'कवित विवेक' का अनुसरण किया है। रचनाये—'कवित्त रत्नाकर' और 'काव्य कल्पद्रुम'।

ऋतु-वर्णन

बसंत

बरन बरन तरु फूले उपबन बन,
सोई चतुरंग सग दल लहियत है।
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल है,
गुंजत मधुप गान गुन गहियत है॥
आव आस पास पुहुपन की सुबास,
सोई सोंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है॥
सोभा कौ समाज, 'सेनापति' सुख-साज आज,
आवत बसंत रितुराज कहियत है॥ १॥
लसत कुटज, घन चंपक, पलास बन,
फूली सब साखा जे हरति जन चित्त है।

सेत, पीत, लाल फूल-जाल हैं बिसाल,
तहाँ आछे अलि अच्छर जे कारज के मित्त हैं।
'सेनापति' माधव महीना भरि नेम करि,
बैठे द्विज कोकिल करत घोष नित्त है।
द रँगीन मे प्रबीन है बसंत लिखे,
मानौ काम चक्कवै के विक्रम कवित्त है ॥ २ ॥

लाल लाल टेसू फूलि रहे है विशाल अंग,
स्याम रग भेटि मानौ मसि मे मिलाए है।
तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर पुञ्ज,
मलय पवन उपवन बन धाए है ॥
'सेनापति' माधव महीना मै पलास तरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आए है।
आधे अन सुलगि, सुलगि रहे आधे मानौ,
बिरही दहन काम क्वैला परचाए है ॥ ३ ॥

ग्रीष्म

जेठ नजिकाने सुधरत खसखाने - तल,
ताख तहखाने के सुधारि झारियत है।
होति है मरम्मति बिबिध जल जंत्रन की,
ऊँचे ऊँचे अटा ते सुधा सुधारियत है ॥
'सेनापति' अतर गुलाब-अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत है।
ग्रीषम के बासर बराइबे कौ सीरे सब,
राज भोग काज साजि यौ सम्हारियत है ॥ ४ ॥

बृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।

तचति धरनि जग जरत झरनि सीरी,
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है ॥
'सेनापति' नैंकु दुपहरी के ढरत, होत,
धमका बिषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कौनो,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥५॥
'सेनापति' ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
नद नदी कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यौ है तपन, डारयौ, भूतलौ तचाइ कै ॥
भीषम तपत रिपु ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है तहखानन मे जाइ कै।
मानौ सीत काल, सीत लता के जमाइबे कौ,
राखे है बिरचि बीज धरा मै धराइ कै ॥६॥

वर्षा

दामिनी दमक सोई मंद बिहँसनि, बग
माल है बिसाल सोई मोहिनि कौ हारौ है।
बरन बरन घन रंगित बसन तन,
गरज्ज गरूर सोई बाजत नगारौ है ॥
'सेनापति' सावन कौ बरसा नवल बधू,
मानौ है बरति साजि सकल सिगारौ है।
त्रिबिध बरन परयौ इन्द्र कौ धनुष, लाल,
पन्ना सौ जटित मानौ हेम खगवारौ है ॥७॥
'सेनापति' उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ के।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानो काजर के ढोइ कै ॥

घन सौं गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौ रबि गये खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जानि याही तै रहत हरि सोइ कै ॥८॥

शरद

पाउस निकास तातै पायौ अवकास, भयो,
जोन्ह कौ प्रकास सोभा ससि रमनीय कौ।
बिमल अकास होत बारिज बिकास,
'सेनापति' फूले कास हित हंसन के हीय कौ॥
छिति न गरद मानौ रंगे हैं हरद सालि,
सोहत जरद को मिलावै हरि पीय कौ।
मत्त है दुरद मिल्यो खंजन परद, हितु,
आई है सरद सुखदाई सब जीय का ॥९॥
कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
'सेनापति' है सुहाति सुखी जीवन के गन है।
फूले है कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहें तारे मानौ मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध उरध गगन हैं॥
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है ॥१०॥
बरन्यौ कबिन कलाधर कौ कलंक, तैसौ,
को सकै बरनि, कबि हू की मति छीनी है।
'सेनापति' बरनी अपूरब जुगति ताहि,
कोबिद बिचारौ कौंन भाँति बुद्धि दीनी है॥
मेरे जान जेतिक सौ सोभा होत जानी राखि,
तेतिकै कलान रजनी की छबि कीनी है।

बढ़ती के राखे, रैनि हू तैं दिन ह्वै है याते,
आगरी मयंक तैं कला निकासि लीनी है ॥११॥

सरसी निरमल नीर पुनि, चंद चाँदिनी पीन।
घन बरसै आकास अरु अवनी रज है लीन ॥
अव-नीरज है लीन, बिमल तारागन सोभा।
राज हंस पुनि लीन, सकल हिमकर जी लोभा ॥
इत सरवर उत गगन दुहूँ ममता है परसी।
सेनापति रितु सरद, अंग अंगन छबि सरसी ॥ १२ ॥

हेमंत और शिशिर

सीत कौ प्रबल 'सेनापति' कोप चढ़्यो दल,
निबल अनल गयो सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसै विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाई कै ॥
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नेंकु सुलगाव कै।
मानौ भीत जानि, महासीत तै पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै ॥१३॥

सिसिर मै ससि कौ सरूप पावै सविताऊ,
घाम हू मै चाँदनी की दुति दमकति है।
'सेनापति' होत, सीतलता है सहस गुनी,
रजनी की झाँई बासर मे झमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कमोदिनी कौ,
ससि संक पंकजनि फूलि न सकति है ॥१४॥

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरि कै,
द्यौस की छुटाई की बढ़ाई बरनी न जाइ,
'सेनापति' पाई कुछ सोचि कै सुमिरि कै ॥
सीत तै सहस कर. सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौ कोक कोकी कौ मिलत तौ लौ होति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै ॥१५॥

धायौ हिमदल, हित भूधर तै 'सेनापति',
अंग अंग जग, थिर जगम ठिरत है।
पैयै न बताई भाजि गई है तताई,
सीत आयौ आततार्इ छिति अम्बर घिरत है।
करत है ज्यारी भेषधरि कै उज्यारी ही कौ,
घाम बार बार बैरी बैर सुमिरत है।
उत्तर तै भाजि सूर ससि कौ सरुप करि,
च्छिन को छोर छिन अधक फिरत है ॥१६॥

आयौ जोर जड़ कालो परत प्रबल पालौ,
लोगन कौ लालौ पर्‌यौ जियै कित जाइ कै।
ताप्यौ चाहै बारि कर, तिन न सकत टारि,
मानौ है पराए, ऐसे भये ठिठराइ कै।
चित्र कैसौ लिख्यौ तेज हीन दिनकर भयौ,
अति सियराइ गयौ घाम पतराइ कै।
'सेनापति' मेरे जान सीत के सताए सूर,
राखे है सकोरि कर अंबर छपाइ कै ॥१७॥

बिहारीलाल

बिहारीलाल का जन्म वसुवा गोबिनपुर गाँव मे, जो ग्वालियर के निकट है संवत् १६६० के आस-पास हुआ। ये माथुर चौबे कहे जाते है। एक दोहे के अनुसार इनका लड़कपन बुन्देलखण्ड मे बीता लेकिन इनकी जवानी ससुराल मथुरा मे कटी। जयपुर के महाराज जयसिंह इनके आश्रयदाता थे। किवदन्ती है कि महाराज जयसिंह ने अपनी नवोढ़ा पत्नी की आसक्ति मे प्रायः सारा राज-काज छोड़ दिया था। सरदारो की सलाह से इन्होने किसी प्रकार एक दोहा अन्तःपुर मे भिजवाया, जहाँ से राजा कभी बाहर होते ही नही थे पर दोहे से प्रभावित होकर जयसिंह फिर नियम से राजकाज देखने लगे। वह दोहा—

नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास एहि काल।
अली कली ही सो बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

कहा जाता है कि महाराज जयसिंह ने बिहारी को अपना अन्तरंग मित्र बनाकर उन्हे ऐसे ही सरस दोहों की रचना करने को कहा। बिहारी दोहे बना बनाकर सुनाने लगे और हर दोहे पर एक-एक अशर्फी लेते गये। इन दोहों की संख्या सात सौ तक जा लगी जिनका संग्रह 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये सम्वत् १७२० तक जीवित रहे।

शृङ्गार काव्यों मे बिहारी सतसई का जितना मान हुआ उतना और किसी भी रचना का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी काव्य मे रत्न माना जाता है। इसकी सर्वप्रियता और इसका प्रचार इतना बढ़ा कि इसकी पचासो टीकाये लिखी गईं। इनमे चार-पाँच टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध है। इसके टीकाकार तक कवि माने गये। कृष्ण कवि की टीका कवित्तो में है। इसके अतिरिक्त हरि प्रकाश टीका, लल्लूजीलाल की 'लालचन्द्रिका' सरदार कवि और सुरतिमिश्र की टीका प्रसिद्ध है और कवित्त मे लिखी गई है। इनके अतिरिक्त भी बहुतेरे कवियो ने छप्पय, कुण्डलियाँ और सवैये मे बिहारी के भावो को बढ़ाया है। इन दोहो पर पठान सुलतान की रोचक किन्तु अधूरी कुन्डलियो को भारतेन्दु हरिश्चचन्द्र ने कुण्डलियाँ रचकर पूरी करनी चाही थी, किन्तु पूरी न कर सके। हिन्दी के तो अनेक कवियो ने यह काम किया किन्तु, प० परमानन्द ने तो इन दोहो का संस्कृत अनुवाद कर 'शृङ्गार सप्तशती' नाम दिया। इस प्रकार बिहारी पर स्वतन्त्र रूप स बहुत बड़ा साहित्य खड़ा हो गया।

बिहारी ने इस सतसई के अतिरिक्त कोई दूसरी रचना नहीं की। यही इनकी कीर्ति की उज्जवल पताका है। कवि का यश अधिक लिखने के कारण नहीं उसकी कविता के गुण के कारण होता है। बिहारी सतसई इसका प्रमाण है। मुक्तक लिखने वालो मे बिहारी सवश्रेष्ठ है—इसमे सन्देह नहीं। मुक्तक मे प्रबन्ध काव्य की विशालता और कथा की धारा में पाठक को बहाने की शक्ति तो नही होती, किन्तु वह यदि बिहारी की कोटि का हो तो वह सावन की फुहार की तरह मन को मोहित कर सकता है। बिहारी के इसी गुण पर रीझकर किसी ने यह प्रसिद्ध दोहा कहा है:—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत मे छोटे लगै, बेधैं सकल सरीर॥

स्वर्गीय प० पद्मसिंह शर्मा के विचार में बिहारी के बहुतेरे दोहे संस्कृत की 'आर्यासप्तशती' और 'गाथासप्तशती' के आधार पर बने हैं पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि बिहारी ने मूल भावों को और भी सुन्दर और मोहक बना दिया है।

काव्य-गुण—'बिहारी सतसई' लक्षण-ग्रन्थ के रूप में नहीं लिखी गई है किन्तु लक्षण-ग्रन्थ के सभी विषय, 'नखशिख' 'नायिका-भेद' 'षट्ऋतु' यहाँ तक कि 'नीति' और 'वैराग्य' भी इसमें आ गये हैं। दोहे के छोटे दायरे में इन्होंने भाव व्यञ्जना में निराली सफलता पाई है।

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रङ्ग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अङ्ग॥

बिहारी ने जहाँ शृङ्गार-कला का यह दृष्टिकोण रक्खा है वहीं वे :—

मैं समुझयो निरधार, यह जग काँचे काँच सों।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ॥

इस सोरठे में अद्वैत का मूल सिद्धान्त भी दिखा सके हैं।

भाषा और शैली—इनकी शैली में व्यंग्य और सहृदयता के साथ ही बचन चातुरी और रस के संचारी भावों का स्वाभाविक और रोचक मेल है। भाषा इनकी प्रसाद गुण से भरी हुई ब्रज है। शब्दों का रूप पद बैठाने के लिए इन्होंने कहीं भी बिगाड़ा नहीं। **रचना**—बिहारी सतसई।

सूक्ति-सुधा

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परै स्याम हरित-दुति होइ॥१॥

मोर-मुकुट की चन्द्रिकनि, यौं राजत नँद नन्द ।
मनु ससि सेखर के अकस किय सेखर सत चन्द ॥२॥
अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट-जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष-सी होति ॥३॥
दुसह दुराज प्रजानि कौ, क्यों न बढ़ै दुःख दंद ।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि चंद ॥४॥
सघन-कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर ।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥५॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब मे, अपत कँटीली डार ॥६॥
नित प्रति एकत ही रहत, बैस बरन-मन-एक ।
चहियत जुगल किसोर लखि, लोचन-जुगल अनेक ॥७॥
इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहि ।
देखत बनै न देखिबो, बिनु देखे अकुलाहि ॥८॥
तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु ।
जिहि ब्रज-केलि-निकुंज-मग, पग-पग होत प्रयागु ॥९॥
कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत-तपोपन-सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥१०॥
खेलन सिखये, अलि, भलै चतुर अहेरी मार ।
कानन चारी नैन मृग, नागर नरनि सिकार ॥११॥
तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान ।
तू मोहन कै उर बसी, ह्वै उरबसी समान ॥१२॥
पाय महावरु दैन कौं, नाइनि बैठी आय ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाय ॥१३॥
नाचि अचानक ही उठे बिनु पावस बन गोर ।
जानति हौ, नंदित करी एहि दिसि नंद किसोर ॥१४॥

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे क्रूर ॥१५॥

बिरह-बिथा-जल-परस बिन, बसियतु मो हिय ताल ।
कछु जानत जल-थंभ-बिधि, दुरजोधन लौं लाल ॥१६॥

इत आवति चलि, जाति, उत चली छ-सातक हाथ ।
चढ़ी हिंडोरैं मैं रहै, लगी उसासन साथ ॥१७॥

तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिह भौंह कमान ।
चलचित बेधे चुकित नहि बक बिलोकनि बान ॥१८॥

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ, स्रुति सेवत इक अंग ।
नाक-बास बेसरि लह्यो, बसि मुकुतन् के संग ॥१९॥

पत्रा ही तिथि पाइयै, वा घर कैं चहुँ पास ।
नित प्रति पून्योंई रहै, आनन-ओप-उजास ॥२०॥

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई नई यह रीति ॥२१॥

इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल ।
अइहै बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन पे फूल ॥२२॥

जद्यपि सुन्दर, सुघर, पुनि सगुनौ दीपक-देह ।
तऊ प्रकासु करै तितौ भरियै जितौ सनेह ॥२३॥

रनित भृङ्ग-घंटावली, झरति दान मधु नीरु ।
मंद मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज-समीर ॥२४॥

नीति-वचन

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय ।
वह खाये बौरात नर, यह पाये बौराय ॥२५॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहि कोय ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़े स्याम रंग, त्यौं-त्यौं उज्जल होय ॥२६॥

जगत जनायो जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहि ।
ज्यो आँखिन सब देखिये, आँखि न देखि जाहि ॥२७॥

तौ लगि या मन-सदन मे, हरि आवै केहि बाट ।
बिकट जटे जौ लौ निपट, खुलै न कपट कपाट ॥२८॥

कीनै हूँ कोटिक जतन, अब कहि काढ़ै कौंध ।
भौ मन मोहन-रूप मिलि, पानी मै कौ लौन ॥२९॥

जप माला, छापा, तिलक सर न एकौ काम ।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम ॥३०॥

मन मोहन सो मोह करि, तूँ घन श्याम निहारि ।
कुंज बिहारी सो बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥३१॥

दीरघ साँस न लेइ दुख, सुख साहिबी न भूल ।
दई दई का करत है, दई दई सु कबूल ॥३२॥

करौ कुबत जग, कुटिलता, तजौ न दीन दयाल ।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगी लाल ॥३३॥

मै तपाइ त्रयताप सौं, राख्यौ हियौ हमाम ।
मति कबहुँक आऐ यहाँ, पुलिक पसीजै स्याम ॥३४॥

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी, मुरारि ।
बीधे मोसौ आइकै, गीधे गीधहि तारि ॥३५॥

भूषण

वीर रस के यशस्वी कवि भूषण का जन्म कानपुर के तिकवाँपुर गाँव मे संवत् १६७० में हुआ था। प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि और मतिराम इनके भाई कहे जाते हैं। किन्तु भिन्न गोत्र के कारण मतिराम इनके भाई नही हो सकते। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम था रत्नाकर त्रिपाठी। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हे कवि भूषण की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण नाम से प्रसिद्ध हो गये और इनका असली नाम लुप्त हो गया। कई राजाओं के यहाँ घूमने के बाद इनके वीर काव्य के आधार छत्रपति शिवाजी इन्हें मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी मे अपना कन्धा लगाया था जिस पर इन्होने कहा था :—

'सिवा को बखानौं कि बखानौ छत्रसाल को।'

प्रसिद्ध है कि इन्हे एक-एक छन्द पर छत्रपति शिवाजी ने लाखो रुपये दिये। इनकी मृत्यु सवत् १७७२ मे कही जाती है। रीतिकालीन कवियो मे शृङ्गार वर्णन की ही धूम रही। कुछ कवियो ने अपने आश्रयदाताओं के यश और प्रताप का भी वर्णन किया; जिसमे उन्हे वीर भी बनाया किन्तु वह बहुत कुछ चाटुकारी क ही रूप मे रही। जनता के भीतर उत्साह और शक्ति का मन्त्र फूँकने की शक्ति उनमे न पैदा हो सकी। पर भूषण के दोनो चरित नायक अन्याय क दमन मे रुद्र थे, और हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति,

की रक्षा मे औरङ्गजेब की देशव्यापी शक्ति के साथ टक्कर ले रहे थे। इनके प्रति हिन्दू जनता मे आदर और श्रद्धा की भावना बराबर बढ़ती गई। हिन्दू जनता के हृदय मे इन वीरो के प्रति अलौकिक रहस्य और देवत्व की भावना अपनी जगह बना चुकी थी। महाकवि भूषण ने इन्हे अपना चरित नायक बना कर अपनी वाणी का कुछ वैसा ही उपयोग किया जैसा कि गोस्वामी तुलसी दास ने श्रीराम का गुणगान कर किया था। यही कारण है कि इन वीरो के सम्बन्ध मे भूषण के वीर उद्‌गारो को हिन्दू जनता ने जातीय गौरव और श्री के रूप मे अपनाया। वीर गुणगान जो परम्परा से कवि कर्म माना गया है, हिन्दू इतिहास के इन वीरो को आदर्श बनाकर भूषण ने पूरी तरह से निबाहा है। भूषण की कविकीर्ति इसी कारण जनता के हृदय मे अविचल है।

काव्य-गुण—जातीय गौरव और राष्ट्रीय भावना भूषण की कविता का प्राण है। शिवाजी और छत्रसाल उस युग के सबसे बडे हिन्दू वीर और लोक-रक्षक है। इसलिए इनका गुणगान प्रकृत कवि कर्म है—चाटुकारी नही। इसलिए भूषण अपने युग के महान उन्नायक है। उनकी कविताओ मे शङ्कर का ओजपूर्ण रूप है। वे हिन्दू जीवन के गौरव किरीट है। पराजित जाति के भीतर विजय का शंखनाद करने वाले महाकवि भूषण का मूल्यांकन उनके काव्य-गुणो पर न होकर उनकी जातीय निष्ठा पर होता है। इसी निष्ठा के बल पर इनकी कवितायें ओजस्विनी, आशा और वीरदर्प पूर्ण है।

भाषा और शैली—'शिवराज भूषण' इन्होने रीति पद्धति के अनुसार लक्षण ग्रन्थ के रूप मे लिखा है, किन्तु इसमे लक्षण नियमो का शास्त्रीय निर्वाह न होकर शिवाजी के वीर गौरव का मनोहर चित्रण हुआ है। इनके वर्णन कहीं-कहीं क्लिष्ट होने पर

भी स्वाभाविक और रोचक है। भाषा इनकी ब्रज है किन्तु इन्होंने सारे देश का पर्यटन किया था इसलिए इनकी भाषा में फारसी, बुन्देलखण्डी शब्दों का भी प्रयोग है। शब्दों की तोड़-मरोड़ काव्य के ओज में छिप जाती है। रचनायें—शिवराज भूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल-दशक।

स्तुति

विकट अपार भव पंथ के चले को,
स्रम हरन करन बिजना से ब्रह्म ध्याइये।
एहि लोक पर लोक सुफल करन,
कोक-नद से चरन, हिये आनि के जुडाइये॥
अलि - कुल - कलित - कपोल-ध्यान - ललित,
अनन्द - रूप - सरित मे भूषण अन्हाइये।
पाप तरु भंजन, बिघन - गढ़ गञ्जन,
जगत मन रञ्जन द्विरद मुख गाइये॥

जै जयन्ति जै आदि सकति जै कालि कपर्दिनि।
जै मधु कैटभ छलनि देवि जै महिष विमर्दिनि॥
जै चमुण्ड जै चण्ड मुण्ड भण्डासुर खण्डिनि।
जै सुरक्त जै रक्त बीज बिड्डाल बिहण्डिनि॥
जै जै निसुम्भ सुम्भद्दलनि, भनि भूषन, जै जै भननि।
सरजा समत्थ सिवराज कहँ, देहि बिजै जै जग जननि॥

शिवाजी का यश

ब्रह्म के आनन तें निकसे ते अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठर के बरने बलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी॥
भूषन या कलि के कबिराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

जापर साहि तनै सिवराज सुरेस की ऐसी सभा सुभ साजै।
यों कवि भूषन जम्पत है, लखि संपति को अलकापति लाजै॥
जामधि तीनहु लोक की दीपति ऐसो बड़ो गढ़राज बिराजै।
वारि पताल सी, माची मही, अमरावति की छबि ऊपर छाजै॥

सासताखाँ दुरजोधन सो औ दुसासन सो जसवन्त निहार्‌यौ।
द्रोन सो भाऊ करन्न करन्न सो, और सबै दल सो दल मार्‌यौ॥
ताहि बिगोय सिवा सरजा, भनि भूषन, औनि छतायो पछार्‌यौ।
पारथ के पुरुषारथ भारत जैसे जगाय जयद्रथ मार्‌यौ॥

पावक तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को।
आनँद भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को॥
भूतल माँहि बली सिवराज भो, भूषण भाखत शत्रु सुधा को।
बन्दन तेज त्यों चन्दन कीरति सोधे सिगार बधू बसुधा को॥

एक कहै कल्पद्रुम है इमि पूरत है सब की चित चाहै।
एक कहै अवतार मनोज को यो तन मे अति सुन्दरता है॥
भूषन, एक कहै महि इन्द्र यो राज बिराजत बाढ़यौ महा है।
एक कहै नरसिह है संगर, एक कहै नरसिह सिवा है॥

इन्द्र जिमि जम्भ पर बाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाह पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदंड पर चीता मृग झुण्ड पर,
भूषन बितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय,
जाके भूपर भरत नाम भाई नीति चारु है।
भूषन भनत कुल सूर कुल भूषन है,
दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है॥
अरि-लंक तोरे जोर जाके संग बानर है,
सिंधुर हैं बाँधे जाके दलको न पारु है।
तै गहि कै भेंटै जौन सकस मरद,
जानै सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है॥

वेद राखे विदित पुरान राखे सार युत,
राम नाम राख्यो आनि रसना सुघर मे।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मे जनेऊ राख्यो माला राखी गर मे॥
मीडि राखे मुगल मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥

गरुड को दावा सदा नाग के समूह पर,
दावा नाग-जूह पर सिंह सिर ताज को।
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर,
पच्छिन के गोल पर दावा सदा बाज को॥
भूषन अखंड नव खंड महि मंडल में,
तम पर दावा रवि-किरन-समाज को।
पूरब पछाँह देस दच्छिन ते उत्तर लौं,
जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को॥

वारिधि के कुम्भ-भव, घन बन दावानल,
तरुन तिमिर हूँ के किरन-समाज हौ।

कंस के कन्हैया, कामधनु हू के कंठ काल,
कैटभ के कालिका, बिहंगम के बाज हौ ॥
भूषन भनत जम जालिम के सची पति,
पन्नग के कुल के प्रबल पच्छिराज हौ ॥
रावन के राम, कातकीज के परसुराम,
दिल्लीपति दिग्गज के सेर सिवराज हौ ॥

बद्दल न होय दल दच्छिन उमंडि आयो,
घटा ये न होय इभ सिवजी हंकारे के।
दामिनी दमंक नाहि खुले खग्ग बीरन के,
इन्द्र धनु नाहि ये निसान है सवारे के॥
देखि देखि मुगलन की कामिनी बिगर त्यागें,
उझकि उझकि घर छाँड़त बिडारे के।
दिल्लीपति भूल मति गाजत न घोर घन,
बाजत नगारे ये सितारे गढ़वारे के॥

छत्रसाल-पराक्रम

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन बीच धँसि जाती मीन,
पैरि पार जात परबाह ज्यों जलन के॥
रैया राय चम्पति को छत्रसाल महाराज,
भूषन सकत को बखाने यो बलन के।
पच्छी पर-छीने ऐसे परे पर छीने,
बीर तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के॥

शस्त्र गहि छत्रसाल खीझ्यौ खेत बेतवा के—
उत ते पठानन हू कीन्ही झुकि झपट हैं॥

हिम्मति बडी के गबडो के खिलवारन लौं,
देत सै हजारन हजार बार चप है ॥
भूषन भनत काली हुलसी असीसन कौ,
सीसन को इस की जमाति जोर जप है।
समद लो समद की सेना त्यों बुंदेलन की,
सेलै समसेरैं भई बाढ़व की लप है ॥

देस दहबट्टि आया आगरे दिल्ली के मेंड़े,
बरगी बहरि मानो दल जिमि देवा को।
भूषन भनत छत्रसाल छितिपाल मनि, ताके,
तै कियो बिहाल जग जीति लेवा को ॥
खंड खंड सोर यों अखंड महि मंडल मे,
मंडो ते बुन्देलखंड मंडल महेवा को।
दच्छिन को नाह को कटक रोक्यो महाबाहु,
ज्यों सहस्रबाहु ने प्रबाहु रोक्यो रेवा को ॥

महाकवि देव

इनका जन्म इटावा मे हुआ था। कुछ लोग इन्हे सनाढ्य ब्राह्मण और कुछ कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहते है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'भावबिलास' के अनुसार इनका जन्म संवत् १७३० निश्चित होता है क्योंकि उक्त ग्रंथ मे इन्होने रचना-काल संवत १७४६ देकर अपनी आयु सोलह वर्ष की कही है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। इन्हें कोई प्रेमी आश्रयदाता नहीं मिला और ये बराबर एक स्थान से दूसरे पर हटते रहे।

औरंगजेब के बड़े पुत आजमशाह रसिक और हिन्दी कविता के प्रेमी थे। उन्होने इनके 'अष्टयाम' और 'भावविलास' को इनसे सुना भी था। उसके बाद इन्होने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर "भवानी विलास" और कुशलसिह के नाम पर "कुशल विलास" बनाया। मदनसिह के पुत्र कुँवर उद्योगसिह के लिए इन्होंने 'प्रेम चन्द्रिका' की रचना की। इन्होने बाद को दूर-दूर तक भ्रमण किया और अपने इस निरीक्षण का उपयोग "जाति विलास" मे किया। इस तरह इनकी रचनाये भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के सन्तोष के लिए समय-कुसमय होती रहीं, जिसमें इन्हें कवि-रुचि के सुख और शान्ति का अभाव रहा। किसी एक स्थान पर रह कर यदि इनकी रचनाये हुई होतीं तो सम्भव है उनमे और भी परिष्कार हो पाया होता। इतने पर्यटन के बाद सम्भवतः इन्हें एक प्रशंसक आश्रयदाता भोगीलाल मिले जिनके लिए

संवत् १७८३ में इन्होने 'रस विलास' नामक ग्रन्थ बनाया। इनकी प्रशंसा में इन्होने एक सन्तोषप्रद उक्ति कही है—

"भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन्ह,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे है'।

रीतिकालीन कवियों में सब से अधिक ग्रन्थो की रचना देव ने की है। कोई इनके ग्रन्थो की संख्या ५२ और कोई ७२ तक कहते हैं। इनके ग्रन्थो मे एक ग्रन्थ के कवित्त दूसरे ग्रन्थ मे भी मिलते है। "सुखसागर तरंग" तो सम्भवतः इन्होने अपने अन्य ग्रन्थों के सुन्दर कवित्तो का संग्रह तैयार किया है।

काव्य गुण—ये आचार्य और कवि दोनो ही रूपों मे प्रसिद्ध है। इनके ग्रन्थो की इतनी बढ़ी संख्या इनके पांडित्य और अध्यवसाय का द्योतक है। कवित्व शक्ति और मौलिकता देव में बहुत बढ़ी-चढी है। विषयो के निरूपण में इन्होंने पाण्डित्य-पूर्ण और जटिल मार्ग का अनुसरण किया है। अर्थ गौरव इनमे परि-पुष्ट और नवीन विषयो की कल्पना की इनकी शक्ति असाधारण है। स्थान-स्थान पर जटिलता रहते हुए भी इनकी कविता, सरस और श्रुति मधुर है। रीतिकालीन कवियो में इनकी प्रतिभा, और प्रगल्भता निराली है। रीतिकालीन कवियो मे इनका क्षेत्र सब से विशाल और गौरवपूर्ण है। कल्पना और भावो की अभिव्यक्ति प्रकृति का सजीव वर्णन, काव्य-ध्वनि को ऊँचे धरातल पर रखने की चेष्टा इनकी विशेषतायें है।

भाषा और शैली—इनकी शैली रीतिकालीन शैली है, जिसमे शृंगार रस के नाना भेदो और रूपों का वर्णन इन्होने किया है। भाव की मोहक अभिव्यंजना और उक्तिवैचित्रय, वचन-चातुरी इनकी रचनाओ मे पद-पद पर दिखाई देती है। निगूढ़ पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण इनकी शैली जटिल हो गई है। जिससे इनकी लोकप्रियता नही बढ़ सकी। इनकी भाषा ब्रज है जिसे इन्होंने

उन्नत साहित्यिक रूप देने के लिये जटिल कर दिया है। इनकी रचनाये कवित्त और सवैयो में हुई है।

रचनायें—भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास, जाति-विलास, रस विलास, राधिका विलास, पावस विलास, वृत्त विलास, अष्टयाम, सुन्दरी-सिन्दूर, सुजान-विनोद, प्रेम-तरंग, राग रत्नाकर, देव-चरित्र, प्रेम चन्द्रिका, काव्य रसायन, सुखसागर तरंग देवमाया प्रपंच, ब्रह्मदर्शन पच्चीसी, आत्मदर्शन पच्चीसी, तत्वदर्शन पच्चीसी, नीतिशतक, नखशिख, रमानंदलहरी, प्रेम-दीपिका और सुमित्र विनोद।

निष्ठा

सूनो कै परम पद ऊनो कै अनंतमद,
नूनो कै नदीस नद इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की, सपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज वीथी विथुरै परी॥
भादों को अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ;
पाय के सँयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि,
जसुदा के कोरै एक बारही कुरै परी॥ १॥

राधा-रूप

श्री बृषाभान कुमारी के रूप की, न्यारी कै को उपमा उपजावै।
चंचल नैन के मैन के बान, कि खञ्जन मीनन कोई बतावै।
आनँद सो बिहसाति जबै, कवि देव तबै बहुधा मन धावै।
कै मुख कैधो कलाधर है; इतनो निहच्याँइ नही चित आवै॥२॥

तेरी सी बेना है स्याम अमा अरु, तेरीयो बेनी है स्याम अमासी।
परनमासी सी तू उजरी, अरु तोसी उजारी है पूरनमासी ॥
तेरौ सो आनन चंद लसै, तुअ आनन मै सखी चंद समासी।
तोसी बधू रमणीय रमा, कवि देव है तू रमणीय रमा-सी ॥३॥

झूमि अटा उझकै कहूँ देव, सुदूरि तें दौरि झरोखनि झूली।
हाँस हुलास बिलास भरी मृग, खंजनि मीन प्रकासन तूली ॥
चारिहू ओर चलै चपलै, जु मनोज की तेगै सरोज-सी फूली।
राधिका की अँखियाँ लखि कै, सखियाँ सब सँग की कौतिक भूली॥४

एक तुही बृषभानसुता अरु, तीनि है वे जु समेत सची है।
और न केतिक राजन के कवि राजन की रसनाये रची है ॥
देवी रमा कवि देव उमाये त्रिलोक मे रूप की रासि मची है।
पै वरनारि महासुकमारि ये चारि विरंचि विचारि रची है ॥५॥

आगे आगे आस पास फैलति बिमल बास,
पीछे पीछे भारी भीर भौरनि के गान की।
ताते अति नीकी किंकिनी की झनकार होति,
मोहनी है मानो मनमोहन के कान की ॥
जगर मगर होति जोति नव जोबन की,
देखे गति भले मति देव देवतान की।
सामुहैं गली के जु अली के सँग भली भाँति,
चली जाति देखो वह लली वृषभान की ॥ ६ ॥

रूप-चित्र

पायन नूपुर मंजु बजै कटि किंकिनि मै धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत हिए हुलसै बनमाल सुहाई ॥
माथे किरीट बड़े दृग अंजन मंद हँसी मुख चन्द्र जुन्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुन्दर श्रीब्रज-दूलह देव सहाई ॥ ७ ॥

विरह

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृग लोचनि,
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात ।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहि,
सिसकि सिसक निसि खोई, रोय पायो प्रात ॥
को जाने, री बीर ! बिनु बिरही बिरह बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात ।
बड़े बड़े नैनन सों आँसु भरि-भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आज ओरो सा बिलानो जात ॥ ८ ॥

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं ।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलो झूलिबे को आज',
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ॥
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन मैं ।
आँख खोलि देखौं तौ न घन है, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन मैं ॥ ९ ॥

जब ते कुँवर कान्ह रावरी, कला निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी ।
तब ही त देव देखी देवता-सी हँसति-सी ।
रीझति-सी, खीझति-सी, रूठति रिसानी-सी ।
छोही-सी, छली-सी, छीन लीनी-सी, छकी-सी छिन
जकी-सी, टकी-सी, लगी थकी थहरानी-सी ।
बींधी-सी, बँधी-सी, विष, बूड़ति बिमोहित-सी,
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी-सी ॥ १० ॥

प्रेम गुन बाँधि चित्त चंग लो चढ़ायो उन,
सुनि सुनि बंसी धुनि चंग मुहचंग की।
मधुर मृदंग सुर उरझि उतंग भई,
रँग परबीन ऐसी बाजति अभंग की॥
अधिक बिहग बधू व्याधि ज्यो कुरंग नारि,
हनी है कुरंग-नैनी पारधी न अंग की।
सग संग डोलत सखीन के उमंग भरी,
अंग अंग उठत तरंग स्याम-रंग की॥११॥

वा चकई कौ भयौ चित चीतो, चितौति चहूँ दिसि चाय सो नाची।
ह्वै गई छीन छपाकर की छबि, जामिनि जोन्ह मनौ जम जाँची॥
बोलत बैरी बिहंगम देव, सँयोगिनि के भई संपति काँची।
लोहू पियौ जु बियोगिनि को, पु कियौ मुख लाल पिनाचिनि प्राची॥१२

सांसनि ही सो समीरु गयो अरु, आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
देव जियै मिलिबे ही की आस, कि आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिनि ते मुख फेरि हरै हँसि, हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि॥१३॥

प्रकृति-वर्णन

डार द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कोर बहरावै देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सो उतारो करै राई लोन,
कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥१४॥

सुनि कै धुनि चातक मोरन की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरै हरि बागन मे, सखि, रागत राग अचूकनि सों॥
कवि 'देव' घटा उनई जु नई, बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती, हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥१५॥

बिचार-बिभूति

देव घनस्याम-रस बरस्यौ अखंड धार,
पूरन अपार प्रेम-पूरन न सहि पर्‌यौ।
बिषै-बधु बूड़े, मद-मोह सुत दबे देखि,
अहंकार-मीत मरि, मुरझि महि पर्‌यौ॥
आसा, त्रिसना-सी, बहू-बेटी लै निकसि भाजी,
माया-मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्‌यौ।
गयौ, नहि हेरो, लयौ बन मे बसेरो नेह,
नदी के किनारे मन मंदिर ढहि पर्‌यौ॥१॥

औचक अगाध सिधु स्याही कौ उमँगि आयौ,
तामे तीनो लोक बूड़ि गये एक सग मे।
कोरे-कोरे कागद लिखे ज्यो कारे आखर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन, नाचै चित्त भंग मे॥
आँखिन मे तिमिर, अमावस की रैनि अरु,
जंबू रस बूँदि जमुना-जल तरंग मे।
यो ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो 'देव'
स्याम रग ह्वै कार समान्यौ स्याम रग मे॥१७॥

कथा मै न कंथा मै न तीरथ के पथा मै न,
पोथी मै न पाथ मै न साथ की बसीति मै।
जटा मै न मुंडन न तिलक त्रिपुंडन न,
नदी कूप कुन्डन अन्हान दान रीति मै॥

पीठ मठ मंडन न कुण्डल कमंडल न,
माला दण्ड मैं न देव देहरे की भीति मैं।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रकट परमेसर प्रतीति मैं ॥१८॥

जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहि छोभ को छाँहौ।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर मोल जवाहिर तौ अति चाहौ॥
बानी पुनीति ज्यो देवधुनी रस आरद सारद के गुन गाहौ।
सील-ससी सविता-छविता कविताहि रचै कवि ताहि सराहौ ॥१९॥

बान्यो बन्यो जरतार को तामहि, ओस को सार तन्यो मकरी ने।
पानी मैं पाहन पोत चल्यो चढ़ि कागद की छतुरी सिर दीने॥
कॉख मै बॉधि कै पॉख पतंग के देव सुसंग पतंग को लीने।
मोम के मन्दिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन कीने ॥२०॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

"हरिऔध" जी का जन्म वैशाख कृष्ण तीज संवत् १६२२ को निजामाबाद, जिला आजमगढ़ मे हुआ। संवत् १६३६ में वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा पास कर ये काशी के क्वीस कालेज मे अंगरेजी पढ़ने के लिए भर्ती हुए किन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण इनकी अँग्रेजी शिक्षा आगे न बढ़ सकी। अँग्रेजी पढ़ना छोड़कर घर पर ही यह उर्दू, फारसी और संस्कृत का अभ्यास करते रहे; संवत् १६४१ मे इन्हे निजामाबाद के मिडिल स्कूल मे अध्यापक की जगह मिली। संवत् १६४६ मे गिरदावर कानूनगो और अंत मे बीस साल आजमगढ़ में सदर कानूनगो रहकर सवत् १६८० मे इन्होने सरकारी नौकरी से अवकाश लेकर हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस मे अवैतनिक हिन्दी अध्यापक का कार्य आरम्भ किया। आजकल वृद्धावस्था के कारण हिन्दू विश्व-विद्यालय से भी अवकाश लेकर यह अपने घर पर ही अधिकतर रहने लगे है। इनके पूर्वज सिक्ख परम्परा मे दीक्षित हो चुके थे इसलिए इनके नाम के साथ सिह और उपाध्याय का योग है। विचारो के साथ ही-साथ उनके आचरण मे भी उदारता और आदर्शवादिता की मात्रा भी मिलती है। ये प्राचीनता के पुजारी है और उन्ही सुधारो को मान सकते है जिनका प्रमाण हमारी प्राचीन संस्कृत मे भी मिलता है।

कविता का संस्कार इन्हे इनके निवास-स्थान के सिख साधु बाबा सुमेरसिंह से मिला था। खड़ीबोली के लिये इन्होंने पहले उर्दू के छन्दो और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा। संवत् १९५७ के पहले ही वे बहुत-सी स्फुट रचनायें उर्दू के ढंग पर कर चुके थे। इसी संवत् १९५७ मे नागरी प्रचारिणी सभा के गृह प्रवेश के अवसर पर इन्होंने जो कविता पढ़ी थी उसके चार चरण ये है—

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसो का अभी॥
मौलवी ऐसा न होगा एक भी।
खूब उर्दू जो न होवे जानता॥

स्वर्गीय महाबीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से खड़ीबोली मे संस्कृत की शब्दावली और संस्कृत वृत्तो का प्रचार बढ़ा। 'हरिऔध' जी भी उस प्रभाव से न बच सके और संवत् १९७१ मे उनका काव्य 'प्रियप्रवास' प्रकाशित हुआ इसके पहले वे ब्रजभाषा मे सवैयो और कवित्तो की रचना भी कर चुके थे।

काव्य-गुण—"प्रियप्रवास" मे कृष्ण सम्बन्धी नये आदर्शों की कल्पना की गई है। इसमे ब्रज के रास रचनेवाले कृष्ण नही, जन-सेवक और लोक-रक्षक कृष्ण का चित्रण हुआ है। इस कृष्ण की राधा केवल विरह ज्वाला मे ही नही जलती रहती, उस विरह मे उनका लौकिक रूप निखर उठता है और वे लोक-सेवा को अपने जीवन का उद्देश्य बना लेती है। शृङ्गार और वात्सल्य के वर्णन में उपाध्यायजी ने निपुणता दिखाई है। उनके शृंगार-वर्णन मे न तो कही अश्लीलता है और न उनके वात्सल्य मे कृत्रिमता। इधर उनका 'वैदेही वनवास' नामक एक और प्रबन्ध काव्य प्रकाशित हुआ है इसमे भी उपाध्यायजी ने नई विचार धारा के अनुसार लोकोपकारी चरित्र चित्रण

किया है। लोकोपकार की भावना उपाध्यायजी के काव्यो की विभूति है। भावव्यञ्जना और वर्णन की प्रचुरता इनकी विशेषताये है।

भाषा और शैली—'प्रिय प्रवास' मे संस्कृत और अलंकृत शैली है। 'वैदेही वनवास' मे मध्यमार्ग का अनुसरण कर उन्होने आधुनिक साहित्यिक भाषा का प्रयोग करना चाहा है। 'बोलचाल' 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' मे बोलचाल की मुहावरेदार भाषा देखी जाती है। 'रसकलश' इनकी ब्रजभाषा की रचना, लक्षण ग्रन्थ के रूप मे है। इस प्रकार इन्होने साहित्य के हर क्षेत्र मे अपनी शक्ति प्रदर्शित की है। कठिन-से-कठिन और सरल भाषा लिखकर उन्होने भाषा के विभिन्न रूपो पर भी अपना अधिकार सिद्ध कर दिया है।

संस्कृत वृत्तो से लेकर हिन्दी के सभी प्रचलित छन्द और उर्दू तक के छन्दो का व्यवहार इन्होने किया है। इनकी सभी रचनाओ को एक साथ रखकर सहसा कोई विश्वास नही कर सकता कि एक ही कवि की वे सारी रचनाये हो सकती है। भाषा, छन्द यहाँ तक कि भावो की विभिन्नता भी उनकी इतनी साफ है कि आलोचक को विस्मय मे पड़ जाना पड़ता है। इसका कारण यह है कि ये प्रकृति कवि नही, आचार्य है। अपने काव्य मे इन्होने अपनी शास्त्रीय शक्ति और आचार्यत्व का ही परिचय दिया है। इसका फल यह हुआ है कि राधिका के रूप-वर्णन मे इनकी शब्द छटा तो देख पड़ती है किन्तु उस रूप माधुरी की कोई भी सत्य अनुभूति पाठक को नही मिलती—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु बिबानना।
तन्वगी कल हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली॥

—प्रिय प्रवास

इनकी विद्वत्ता तो सब कहीं पाठक को मिलती है, किन्तु वह काव्यरस जो अनायास हृदय को हिलाने लगता है इनकी रचनाओं मे कम है।

रचनायें—प्रिय प्रवास, वैदेही वनबास, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, रसकलश, बोलचाल, पद्यप्रसून, कल्पलता, ऋतु मुकुर, काव्योपवन, प्रेम पुष्पोपहार, प्रेम प्रपंच, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह, और प्रेमाम्बु वारिधि। गद्य रचनायें—ठेठ हिंदी का ठाट, अधखिला फूल, हिंदी साहित्य का इतिहास।

कृष्ण-जन्म

जब हुआ ब्रज जीवन-जन्म था।
ब्रज प्रफुल्लित था कितना हुआ॥
उमगती कितनी नँदरानि थी।
पुलकता कितना चित नन्द था॥

बिबिध सुन्दर - बन्दनवार से।
सकल द्वार हुए अभिराम थे॥
बिहँसते ब्रज--सद्म-समूह के।
मुख लसी दसनावलि थी मनो॥

नव - रसाल - सुपल्लव के बने।
अजिर मे वर - तोरण थे बँधे॥
विपुल-जीह - विभूषित था हुआ।
वह मनो रस - लेहन के लिये॥

गृह गली मग मंदिर चौरहों।
तरुवरो पर थी लसती ध्वजा॥

समुद सूचित थी करती मनो।
वह समस्त-कथा सुर लोक को ॥

विपणि हो वर-वस्तु विभूषिता।
मलिन थी करती अलकापुरी ॥
बर-बितान बिमंडित ग्राम की।
सुछबि थी अमरावति-रंजिनी ॥

सजल कुंभ सुशोभित द्वार थे।
सुमन-संकुल थी सिगरी गली ॥
अति-सु-चर्चित थे सब चौरहे।
रस प्रवाहित-सा सब ठौर था ॥

सकल धेनु सुमज्जित थी हुई।
बसन-भूषण औ शिखि पुच्छ से ॥
अति अपूर्व अलंकृत थी हुई।
बिपुल-ग्वाल मनोरम मण्डली ॥

मधुर मंजुल मंगल गान की।
मचगई ब्रज मे बहु धूम थी ॥
सरस औ अति ही मधुसिक्त थी।
नवल कामिनि की कलकंठता ॥

विविध उत्सव की कमनीयता।
विपुलता-अतियाचक वृन्द की ॥
प्रचुरता धन रत्न प्रदान की।
अति मनोरम औ रमणीय थी ॥

विविध भूषण वस्त्र विभूषिता।
वह विनोदवती वर बालिका ॥

विहँसती. गृहनन्द पधारती ।
सुखद थी कितनी जनवृन्द को ॥

ध्वनि विभूषण की वह माधुरी ।
वह अलौकिकता रल तान की ॥
मधुर बादन बाद्य समूह का ।
हृदय के कितना अनुकूल था ॥

वियोग-उपालम्भ

मदीय प्यारी अयि कुज कोकिला ।
मुझे बता तू ढिग कूक क्या उठी ॥
विलोक मेरी चित-भ्रान्ति क्या बनी ।
बिषादिता सकुंचित निपीड़िता ॥

प्रवंचना है यह पुष्प कुंज की ।
भला नहीं तो ब्रज-मध्य श्याम की ॥
कभी बजेगी अब क्या सुबाँसुरी ।
सुधा भरी मुग्धकरी रसोदरी ॥

बिषादिता तू यदि कोकिला बनी ।
विलोक मेरी गति तो कही न जा ॥
समीप बैठी सुन सर्व वेदना ।
कुसंगजा मानसजा मदंगजा ॥

यथैव हो पालित काक-अंक मे ।
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं ।
तथैव माधो यदुवंश में मिले ।
दुखी बना, मंजु मना, ब्रजांगना ॥

तथापि होती इतनी न वेदना ।
न श्याम को जो ब्रज-भूमि भूलती ॥
नितान्त ही है दुखदा, कपाल की ।
कुशीलता, आविलता, करालता ॥

कभी न होगी मथुरा प्रवासिनी ।
निवासिनी गोकुल-ग्राम गोपिका ॥
भला करे लेकर राज-भोज क्या ?
यथोचिता श्यामरता विमोहिता ॥

जहाँ न वृन्दावन है विराजता ।
जहाँ नही है ब्रज-भू-मनोहरा ॥
न स्वर्ग है वांछित, है जहाँ नही ।
प्रवाहिता भानु-सुता प्रफुल्लिता ॥

करील है कामद कल्प-वृक्ष से ।
गवादि हैं काम-दुधा गरीयसी ॥
सुरेश क्या है जब नेत्र में रमा ।
महामना-श्यामघना-लुभावना ॥

जहाँ न वंशी-बट है न कुंज है ।
जहाँ न केकी पिक है न शारिका ॥
न चाह बैकुण्ठ रखे, न है जहाँ ।
बड़ी भली, भानु-लली, समा अली ॥

न कामुका हैं हम राज-वेश की ।
न नाम प्यारा यदु-नाथ है हमें ॥
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की ।
विरागिनी पागलिनी वियोगिनी ॥

(प्रिय प्रवास)

सीता का अपवाद

इसी अवसर पर आया एक—
गुप्तचर वहाँ विकंपित गात ॥
विनत हो वन्दन कर कर जोड़ ।
कही दुख से उसने यह बात ॥

प्रभो यह सेवक प्रातःकाल ।
घूमता फिरता चारों ओर ॥
उस जगह पहुँचा जिसको लोग ।
इस नगर का कहते हैं छोर ॥

वहाँ पर एक रजक हो क्रुद्ध ।
रोक कर गृह प्रवेश का द्वार ॥
त्रिया को कड़ी दृष्टि से देख ।
पूछता था वह बारम्बार ॥

बिताई गई कहाँ पर रात्रि ।
लगाकर लोक - लाज को लात ॥
पापिनी कुल मे लगा कलंक ।
यहाँ क्यो आई हुए प्रभात ॥

चली जा हो आँखो से दूर ।
अब यहाँ क्या है तेरा काम ॥
कर रही है तू भारी भूल ।
समझती है मुझको जो राम ॥

रहीं जो पर गृह मे षटमास ।
हुई है उनकी उन्हें प्रतीति ॥
बड़ो की बड़ी बात है किन्तु ।
कलंकित करती है यह नीति ॥

प्रभो बतलाई थी यह बात ।
विनय मैंने की थी बहु बार ॥
नहीं माना जाता है ठीक ।
जनकजा पुनर्ग्रहण व्यापार ॥

आदि में थी यह चर्चा अल्प ।
कभी कोई कहता यह बात ॥
और कहते भी वे ही लोग ।
जिन्हें था धर्म - मर्म अज्ञात ॥

अब नगर भर मे वह है व्याप्त ।
बढ़ रहा है जन-चित्त विकार ॥
जनपदो ग्रामो मे सब ओर ।
हो रहा है उसका विस्तार ॥

किन्तु साधारण जनता मध्य ।
हुआ है उसका अधिक प्रसार ॥
उन्ही के भावों का प्रतिबिम्ब ।
रजक का है निन्दित उद्‌गार ॥

सीता-निर्वासन

देख जनक-तनया का आनन सुन उनकी बाते सारी ।
बोल सके कुछ काल तक नही अखिल-लोक के हितकारी ॥
फिर बोले गंभीर भाव से अहह प्रिये ! क्या बतलाऊँ ।
है सामने कठोर समस्या कैसे भला न घबराऊँ ॥

इतना कह लोकापवाद की सारी बातें बतलाई ।
गुरुतायें अनुभूत उलझनो की भी उनको जतलाई ॥
गन्धर्वों के महा-नाश से प्रजा-वृन्द का कॅप जाना ।
लवणासुर का गुप्त भाव से प्रायः उनको उकसाना ॥

लोकाराधन में बाधायें खड़ी कर रहा है कैसी।
यह बतला फिर कहा उन्होंने शान्ति-अवस्था है जैसी ॥
तदुपरान्त बन संयत रघुकुल पुंगव ने यह बात कही।
जो जन-रव है वह निन्दित है, वह नहीं कदापि सही ॥

यह अपवाद लगाया जाता है मुझको उत्तेजित कर।
द्रोह-विवश दनुजो का नाश कराने मे तुम हो तत्पर ॥
इसी सूत्र से कतिपय-कुत्साओ की है कल्पना हुई।
अविवेकी जनता के मुख से निन्दनीय जल्पना हुई ॥

दमन नही मुझको वांछित है तुम्हे भी न वह प्यारा है।
सामनीति ही जन अशान्ति-पतिता को सुर-सरि धारा है ॥
लोकाराधन के बल से लोकापवाद को दल दूँगा।
कलुषित मानस को पावन कर मै मन वॉछित फल लूँगा ॥

इच्छा है कुछ काल के लिये तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीत मैं प्रजा पुंज की भ्रान्ति हरूँ ॥
क्यो दूसरे पिसें, सकट मे पड, बहु दुख भोगते रहे।
क्यो न लोक-हित के निमित्त जो सह पायें हम स्वय सहे ॥

जनक नन्दिनी ने दृग मे आते आँसू को रोक कहा।
प्राणनाथ ! सब तो सह लूँगी क्यो जायेगा विरह सहा ॥
सदा आपका चन्द्रानन अवलोके ही मै जीती हूँ।
रूप-माधुरी - सुधा तृषित बन चकोरिका सम पीती हूँ ॥

बोल-चाल

तब गले मिल किस तरह हिल-मिल रहे।
गाड़ियो जी मे भरे हो जब गिले ॥
तब मिले क्यो मेल-सा अनमोल धन।
जब मिलाने से नही मन ही मिले ॥

जब हवा अनुकूल लग पाई नहीं।
तब भला जी की कली कैसे खिले ॥
जो हिलाये क्यों न तो हिल मिल चले।
मन मिलायें क्यों न हम जो मन मिले ॥
तब भला मुँह की न खाते किस तरह।
सूझ - बूझों से रहा जब मुँह मुड़ा ॥
धूल उड़ती तब भला कैसे नहीं।
है अगर रहता हमारा मन उड़ा ॥
रह सकेगी आन क्यो धन - मान की।
हो न पाया दिल धनी जो धन रखे ॥
रख सका जो दूसरों का मन नहीं।
तो रहेगा मान कैसे मन रखे ॥
हित - भरी तरकीब बतलाई बहुत।
बेहतरी की बात बहुतेरी कही ॥
जान लें जो जान लेना हो उन्हे।
मन कहे तो मान ले मेरी कही ॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

कविवर रत्नाकर का जन्म ऋषि पञ्चमी के दिन भादों सुदी ५ सवन् १६२३ मे काशी मे हुआ था। इनके पिता का नाम पुरुषोत्तम दास था। इनके पूर्वजों का अकबर के राज्यकाल मे मुगल दरबार मे प्रवेश हुआ और जब तक मुगलराज्य चला उनको कोई न कोई उच्चपद बराबर मिलता रहा। मुग़लराज्य के पतन के बाद रत्नाकरजी के परदादा लाला तुलाराम कशी चले आये और वहीं बस गये।

रत्नाकरजी के पिता पुरुषोत्तम दास जी विद्याविनोदी जीव थे। उनके घर पर विद्वानों और कवियों का आना-जाना होता रहता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी भी सम्बन्धी होने के कारण बराबर उनके पास आते रहते थे। बालक रत्नाकर पर इस गोष्ठी का प्रभाव पड़ा और इसी समय इनकी एक उक्ति पर प्रसन्न होकर हरिश्चन्द्र ने इन्हे भावी कवि होने की भविष्यवाणी की।

इनकी सारी शिक्षा काशी ही मे हुई थी। संवत् १६४८ में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की और संवत् १६५६ में अवागढ़-राज्य मे इनकी नियुक्ति हुई। यहाँ का जलवायु इनके अनुकूल न पड़ा और दो वर्ष बाद ही यह नौकरी छोड़कर काशी चले आये। थोड़े ही दिन बाद संवत् १६५६ मे हिन्दी के अनन्य भक्त अयोध्यानरेश महामहोपाध्याय महाराज सर प्रतापनारायणसिंह

बहादुर के० सी० आई० ई० ने इन्हें अपने प्राइवेट सेक्रेटरी फिर बाद को चीफ सेक्रेटरी का पद दिया। महाराज के मरने के बाद संवत् १९६३ मे महारानी ने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाया। जीवन भर वे इसी पद पर रहे।

रत्नाकरजी प्राचीनता के उपासक और अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा मिलने पर भी भारतीय संस्कृति के भक्त थे। स्वभाव के कोमल और हृदय के सरल थे। इतने हँसमुख और विनोदी थे कि उनकी मण्डली मे बैठकर हँसी रोकना कठिन था। स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि प्राचीन कवियो के अनेक पद समय-समय पर कहा करते थे। व्यायाम और वैद्यक मे भी इनकी रुचि थी।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापको मे उनका भी स्थान है। 'सरस्वती' के प्रकाशन के समय सम्पादको में इनका भी नाम आया था। इसी समय के आस-पास इन्होने अपने आरम्भिक कई ग्रन्थो की रचना की थी जिनमे 'साहित्य-रत्नाकर' 'अष्टरत्नाकर' और 'कलकाशी' प्रसिद्ध है। महारानी अयोध्या से इन्हे काव्य-रचना मे बड़ा प्रोत्साहन मिला। संवत् १९७८ मे महारानी से साथ इन्हे हरद्वार जाने का अवसर मिला था। वही मेष संक्रान्ति के अवसर पर महारानी के पूछने पर इन्होने वाल्मीकि रामायण से गङ्गा अवतरण की कथा सुनाई। उस कथा का सुनना था कि महारानी न उसे हिन्दी काव्य मे लिखने के लिए इनसे आग्रह किया। इन्होंने सरस्वती का ध्यान किया और वही यह कवित्त महारानी को सुनाया।

सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हस चढ़ी,
बिधि सौं कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मे।
ताल-तुक-हीन अंग भंग छबि छीन भई,
कविता बिचारी ताहि रुचि रस प्याऊँ मै॥

नंददास, देव, घन आनँद, बिहारी सम,
सुकबि बनावन की तुम्हें सुधि धाऊँ मै।
सुनि रतनाकर की रचना रसीली नैकु,
ढीली परी बीनहि सुरीली करि ल्याऊँ मैं॥

इस गर्वोक्ति के साथ 'रत्नाकर' ने गंगावतरण का आरम्भ कर संवत १९८१ मे उसे प्रकाशित किया। 'उद्धवशतक' संवत १९८६ में पूरा हुआ किन्तु 'सूरसागर' का महत्वपूर्ण सम्पादन अधूरा रहा और वे संवत् १९८९ में हरद्वार मे गंगातट पर परलोक सिधारे।

काव्य-गुण—इनकी कविता मे ब्रजभाषा का प्रवाह, लालित्य, माधुर्य और ओज भी है। शृङ्गार रस के वर्णन मे वे निपुण थे। 'उद्धवशतक' का उपालम्भ और व्यंग्य सूर की कोटि में जा बैठा है। खड़ी बोली की इस चरम उन्नति के युग मे ब्रजभाषा की श्रेष्ठता को रतनाकर ने सिद्ध कर दिया। प्रकृति वर्णन मे भी इन्होने अनेक मनोरम स्थलो की सृष्टि की है।

भाषा और शैली—इनकी रचनाये स्वाभाविक, प्रसादगुण-पूर्ण, श्रुति-मधुर और मार्मिक है। इन्हें कवि-हृदय मिला था। कवित्व के चमत्कार के साथ ही साथ साहित्य शास्त्र के नियमो का भी निर्वाह इन्होने पूरी तरह किया है।

विशुद्ध ब्रज इनकी कविता की भाषा है। भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और शब्दो की रोचक ध्वनि इनकी भाषा की विशेषता है।

रचनायें—उद्धवशतक और गगावतरण इन प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने हिंडोला, हरिश्चन्द्र, समालोचनादर्श, साहित्य रत्नाकर, घनाक्षरी नियम रत्नाकर, अष्ट रत्नाकर और कलकाशी का रचना की।

उपालम्भ

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन कौ मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की ।।
मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की ।
जै है बनि-बिगरि न बारिधता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ।।१।।

चिंतामनि मंजुल पँवारि धूर-धारनि मैं
काँच-मन-मुकुर सुधारि राखिबौ कह्यौ।
कहै रतनाकर बियोग-आगि सारन कौं
ऊधौ हाय हमकौ बयारी भखिबौ कह्यौ।
रूप-रस हीन जाहि निपट निरूपि चुके
ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चखिबौ कह्यौ ।।
एते बड़े बिस्व माहि हेरें हूँ न पैयै जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कह्यौ ।।२।।

सरग न चाहैं अपबरग न चाहैं सुनौ
भक्ति मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम ।
कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहि
तन मन साँसनि की साँसति प्रमानैं हम ।।
एक ब्रजचंद कृपा-मंद मुसकानि ही मैं
लोक परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम ।
जाके या बियोग-दुखहू मैं सुख ऐसौ कछू
जाइ पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम ।।३।।

वाही मुख मंजुल की चाहति मरीचै सदा
हमको तिहारी ब्रह्म-ज्योति करिबौ कहा।
कहै रतनाकर सुधाकर-उपासिनि कौ
भानु की प्रभानि कौ जुहारि जरिबौ कहा ॥
भोगि रहीं बिरचे बिरचि के सँजोग सबै
ताके सोग सारन कौ जोग चरिबौ कहा।
जब ब्रजचद कौ चकोर चित्त चारु भयौ
बिरह-चिगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा ॥४॥

साधि लैहैं जोग के जटिल जे बिधाना ऊधौ
बाँधि लैहैं लंकनि लपेट मृगछाला हू।
कहै रतनाकर सुमेलि लैहैं छार अंग
झेलि लैहैं ललकि घनेरे घाम पाला हू ॥
तुम तौ कही औ अनकही कहि लीनी सबै
अब जो कहौ तौ कहै कुछ ब्रज-बाला हू।
ब्रह्म मिलिबै तै कहा मिलि है बतावौ हमै
ताकौ फल जबलौं मिलै ना नदलाला हू ॥५॥

हरि-तन पानिप के भाजन दृगचल तै
उमगि तपन तै तपाक करि धावै ना।
कहै रतनाकर त्रिलोक-ओक-मंडल मे
बेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावैं ना ॥
हर कौ समेत हर-गिरि के गुमान गारि
पल मे पतालपुर पैठन पठावै ना।
फैलै बरसाने मै न रावरी कहानी यह
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना ॥६॥

रहति सदाई हरियाई हिय-धामनि मे
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।

पीव पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति है
सोई रतनाकर पुकारि पपीहा की है ।।
लागी रहै नैननि सों नीर की झरी औ
उठै चित्तमै चमक सो चमक चपला की है ।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रज-मडल मे
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है ।।७।।

उद्धव-बिदाई

धाईं जित-तित तै बिदाई-हेत ऊधव की
गोपी भरी आरति सँभारति न साँसुरी
कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिये
कोऊ गुंज-अंजली उमाहै प्रेम-आँसुरी ।।
भाव भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी ।
पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी ।।८।।

कोऊ चले काँपि संग कोऊ उर चाँपि चले
कोऊ चले कछुक अलापि हल बल से ।
कहै रतनाकर सुदेस तजि कोऊ चले
कोऊ चले कहत सँदेस अबिरल से ।।
आँस चले काहू के सु काहू के उसाँस चले
काहू के हिये पै चदहास चले हल से ।
ऊधव कै चलत चलाचल चली यौं चल
अचल चले औ अचले हू भए चल से ।।९।।

उद्धव का लौटना

प्रेम-मद-छाके पग परत कहाँ के कहाँ
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है ।

कहै रतनाकर यौं आवत चकात ऊधौ
मानो सुधियात कोऊ भावन भुलाई है ॥
वारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं
सारत बहौलिनि जो आँस-अधिकाई है ।
एक कर राजै नवनीत जसुदा कौ दियौ
एक कर बंसी बर राधिका-पठाई है ॥१०॥

ब्रज-रज-रंजित सरीर सुभ ऊधव कौ
धाइ बलबीर ह्वै अधीर लपटाए लेत ।
कहै रतनाकर सु प्रेम-मद माते हेरि
थरकति बाँह थामि थहरि थिराए लेत ॥
कीरति-कुमारि के दरस-रस सद्य ही की
छलकनि छाहि पलकनि पुलकाए लेत ।
परन न देत एक बूँद पुहुमी की कौंछि
पौंछि-पौंछि पट निज नैननि लगाए लेत ॥११॥

कृष्ण को सन्देश

रावरे पठाए जोग देन कौं सिधाए हुते
ज्ञान गुन गौरव के अति उदगार मैं ॥
कहै रतनाकर पै चातुरी हमारी सबै
कितधौं हिरानी दसा दारुन अपार मैं ॥
उड़ि उधिरानी किधौं ऊरध उसासनि मैं
बहिधौं बिलानी कहूँ आँसुनि की धार मैं ।
चूर ह्वै गई धौं भूरि दुख की दरेरनि मैं
छार ह्वै गई धौं बिरहानल की झार मैं ॥१२॥

सीत-घाम-भेद खेद-सहित लखाने सबै
भूले भाव भेदता निषेधन-बिधान के ।

कहै रतनाकर न ताप ब्रजबालनि के
काली-मुख-ज्वाल ना-दवानल समान के ।।
पटकि पराने ज्ञान गठरी तहाँ ही हम
थमत बन्यौ ना पास पहुँचि सिवान के ।
छाले परे पगनि अधर पर जाले परे
कठिन कसाले परे लाले परे प्रान के ।।१३।।

ज्वालामुखी गिरि तै गिरत द्रवे द्रव्य कैधौ
बारिद पियो है बारि विष के सिवाने मै ।
कहै रतनाकर कै काली दाँव लेन काज
फेन फुफकारै उहि गाँउ दुख-साने मै ।।
जीवन वियोगिनी कौ मेघ अँचयौ सो किधौ
उपच्यौ पच्यौ न उर ताप अधिकाने मै ।।
हरि हरि जासौ बरि बरि सब बारी उठै
जाने कौन बारि बरसत बरसाने मै ।।१४।।

गङ्गावतरण

बचन-बद्ध त्रिपुरारि ताकि सन्नद्ध निहारत ।
दियौ ढारि बिधि गग-बारि मंगल उच्चारत ।।
चली विपुल-बल बेग बलित बाढ़ति बह्मद्रव ।
भरति भुवन भय-भार मचावति अखिल उपद्रव ।।

निकसि कमंडल तै उमंडि नभ-मडल खंडित ।
धाई धार अपार बेग सौ वायु बिहंडित ।।
भयौ घोर अति शब्द धमक सौ त्रिभुवन तर्जे ।
महामेघ मिलि मनहु एक संगहि सब गर्जे ।।

भरके भानु-तुरग चमकि चलि मग सौ सरके ।
हरके बाहन रुकत नैकु नहि बिधि हरि हर के ।।

दिग्गज करि चिक्कारि नैन फेरत भय-थर के।
धुनि प्रति धुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके॥

कढ़ि-कढ़ि गृह सौं बिबुध बिबिध जाननि पर चढ़ि-चढ़ि।
पढ़ि-पढ़ि मंगल-पाठ लखत कौतुक कछु बढ़ि-बढ़ि॥
सुर-सुन्दरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने।
लगीं मनावन सुकृत हाथ कानन पर दीने॥

निज दरेर सौं पौन-पटल फारति फहरावति।
सुर-पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति॥
चली धार धुधकारि धरा दिसि काटति कावा।
सगर-सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा॥

बिपुल बेग सौं कबहुँ उमगि आगे कौं धावति।
सौ सौ जोजन लौं सुढार ढरनिहिं चलि आवति॥
फटिकसिला के बर बिसाल मन बिस्मय बोहत।
मनहु बिसद छद अनाधार अंबर मैं सोहत॥

स्वाति-घटा घहराति मुक्त-पानिप सौं पूरी।
कैधौं आवति झुकति सुभ्र आभा-रुचि रूरी॥
मीन-मकर-जल-ब्यालनि की चल चिलक सुहाई।
सो जनु चपला चमचमाति चंचल-छबि-छाई॥

रुचिर रजतमय कै बितान तान्यौ अति बिस्तर।
झिरति बूँद सो झिलमिलाति मोतिन की झालर॥
ताके नीचै राग-रंग के ढंग जमाए।
सुर-बनितनि के बृन्द करत आनन्द-बधाए॥

बर-बिमान-गज-बाजि-चढ़े जो लखत देव-गन।
तिनके तमकत तेज दिव्य दमकत आभूषन॥

प्रतिबिंबित जब होत परम प्रसरित प्रवाह पर।
जान परत चहुँ ओर उए बहु बिमल बिभाकर ।।

कबहुँ सु-धार अपार-बेग नीचे कौ धावै।
हरहराति लहराति सहस जोजन चलि आवै ।।
मनु बिधि चतुर किसान पौन निज मन कौ पावत।
पुन्य-खेत-उतपन्न हीर की रासि उसावत ।।

आवति गिरा है रतनाकर निवाजन कौं,
आनँद-तरंग अंग ढहरति आवै है।
हिय-तमहाई सुभ सरद-जुन्हाई सम.
गहब गुराई गात गहरति आवै है।

बर बरदाननि के बिबिध बिधाननि के,
दान की उमग धुजा फहरति आवै है।
लहरति आवै दृग कोरनि कृपा की कानि,
मंद मुसकानि-छटा छहरति आवै है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

कविवर मैथिलीशरण गुप्त का जन्म चिरगाँव, झाँसी में संवत् १९४३ में हुआ था। इनके पिता सेठ रामचरण, वैष्णव भक्त, 'कनकलता' उपनाम से भक्ति की कवितायें किया करते थे। इस प्रकार श्री मैथिलीशरण जी को पैतृक संस्कार के रूप में कविता की प्रेरणा मिली। बालक मैथिलीशरण ने किसी दिन अपने पिता की कविता की कापी में एक छप्पय लिख दिया। भावुक 'कनकलता' जी ने जब वह छन्द देखा तो गद्गद् होकर इन्हें यशस्वी कवि होने का आशीर्वाद दिया। भक्त पिता का आशीर्वाद हिन्दी काव्य सहित्य में अपना चमत्कार दिखा रहा है।

गुप्तजी अँग्रेज़ी पढ़ने के लिये झाँसी भेजे गये किन्तु कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह स्कूली शिक्षा में इनका जी न लगा। इनकी मौलिकता का आकर्षण तो दूसरी ही ओर था। काव्य की मोहक अनुभूतियाँ इनके हृदय को भाव और भाषा की ओर खींच रही थीं, इन्होंने पढ़ाई छोड़कर घर पर ही साहित्य के अङ्गों का अध्ययन आरम्भ किया और इनकी निष्ठा के अनुकूल ही साहित्य महारथी पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के सम्पर्क में इनकी कला और प्रतिभा निरन्तर निखरती चली गई। बुन्देलखण्ड का जन-प्रिय काव्य आल्हा वे बचपन में ही सुना करते थे। आल्हा की वीर वाणी में उन्हें भारत का अतीत गौरव और पुरुषार्थ देख पड़ा। द्विवेदीजी की प्रेरणा से वे बराबर 'सरस्वती'

मे कवितायें लिखने लगे। इस अभ्यास के साथ उनकी भाषा और वर्णन शैली भी बराबर संस्कृत होती गई। और फिर द्विवेदीजी का वरद हस्त उनके सिर पर पड़ चुका था। योग्य पिता के योग्य पुत्र को योग्य गुरु भी मिला। ऐसा सुयोग हिन्दी के बहुत कम कवियो को मिला होगा। गुप्तजी श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक वैष्णव है। यही इनके वंश की परम्परा है, श्रीराम मे मैथिलीशरणजी की भक्ति, सन्देहवाद के इस युग मे विस्मयजनक है। अपने अमर काव्य 'साकेत' के आरम्भ मे उन्होने श्रीराम के प्रति अपने विश्वास का जो रूप दिया है उसे देखकर यह कहना पड़ता है कि रामभक्त कवियो मे गोस्वामी तुलसीदास के बाद ही इनका स्थान है। एक ही छन्द मे श्रीराम के प्रति अपने जिस विश्वास का ये परिचय देते है वह सदैव याद रखने और विचार करने के योग्य है।

राम तुम मानव हो ईश्वर नही हो क्या ?
विश्व मे रमे हुए नही सभी कहीं हो क्या ?
तब मै निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम मे रमा करे॥ [साकेत]

इनका स्वभाव सरल, उदार, विनम्र और निरभिमान है। इनके समीप बैठने मे तर्क की 'उत्तेजना' नही विश्राम की शान्ति मिलती है।

काव्य-गुण—गुप्तजी ने 'भारत भारती' के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना के साथ साहित्य-क्षेत्र मे चरण रक्खा था। 'भारत भारती' पूरे एक युग तक हिन्दी जगत् मे गूँजती रही और राष्ट्रीय भावना को बल देती रही। उसमे देश का अतीत वर्तमान और भविष्य चित्रित कर इन्होने जागरण का सन्देश दिया। इसी एक रचना से उन्हे लोकप्रियता मिली और इसके बाद वह निरन्तर बढ़ती गई। 'जयद्रथ बध' और 'रंग मे भंग' इनके वीर रस प्रधान किन्तु

करुण भावनाओं मे अभिव्यंजित काव्य हैं। 'साकेत', 'द्वापर' और 'यशोधरा' में इनके आध्यात्मिक तत्व विकसित हुए है। इस प्रकार इनकी कविता बराबर विकासोन्मुख रही है। 'हरिऔध' जी की तरह वह बराबर आवरण यहाँ तक कि रूप और रंग भी नही बदलती चली है। उसका विकास स्वाभाविक और संयत है। उपाध्यायजी जहाँ अनेक प्रकार के साहित्यिक प्रयोग कर अपने पाण्डित्य प्रदर्शन मे लगे रहे वहाँ श्री मैथिलीशरण ने वास्तविक सृष्टि की। गुप्तजी सामंजस्यवादी कवि हैं। उनके हृदय मे महत्त्व के प्रति श्रद्धा है, प्राचीन के प्रति विश्वास और नवीन के प्रति उत्साह है। अपने इष्टदेव की उपासना के बाद ये बराबर सरस्वती की उपासना मे लगे रहते है। जिन प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों का इन्होने अनुवाद किया है उनमे भी मौलिक-सा रस इन्होने पैदा कर दिया है।

भाषा और शैली—इनकी रचनायें स्वाभाविक, मनोरम और हृदयस्पर्शी है। जातीय संस्कृति गोस्वामी तुलसीदास की तरह इन के लिये भी विवेक मूलक है। विवेक और बौद्धिक विभूति इनके काव्य का आधार है कोरी भावुकता इन्हे पसन्द नही। चरित्र चित्रण, रोचक संवाद, नूतन प्रसंगो की कल्पना इनकी विशेषतायें है। आधुनिक हिन्दी काव्य का पूर्ण विकास इनकी रचनाओ मे है। इनकी प्रतिभा आधुनिक साहित्य मे सर्वोपरि है। इनका काव्य-गौरव हिन्दी की इस शताब्दी के कवियो मे सर्वश्रेष्ठ है। हिन्दी काव्य की प्रगति के साथ ये निरंतर आगे बढ़ते गये है। इनकी असाधारण कवित्व शक्ति अभी तक शिथिल नही पड़ी। वे आज भी उतने ही नूतन हैं जितने उस समय थे जब उन्होने 'जयद्रथ वध' की रचना की थी। ओज और कर्तव्य की ध्वनि जो उनके काव्य मे तब थी आज भी बनी हुई है। प्राचीन चरित्रो के द्वारा उन्होंने आधुनिक समस्याओ का संकेत और समाधान भी दिया है।

खड़ी बोली को गौरव के इस आसन पर बैठाने का श्रेय सब से अधिक श्री० मैथिलीशरणजी को है। उन्होंने खडी बोली का संस्कार कर उसे श्रुतिमधुर बनाया। शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, संस्कृत-पद्धति की समासपूर्ण शैली, ओज प्रसाद और माधुर्य इनकी भाषा की विशेषता है। इन्ही गुणों ने इन्हे हिन्दी का सर्वमान्य प्रतिनिधि कवि बनाया है।

'साकेत' इनकी श्रेष्ठ रचना माना गया है जिसके लिए इन्हें हिन्दुस्तानी एकैडेमी ने भी पुरस्कृत किया है और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी इसी रचना पर मिला है। इसके अतिरिक्त इनकी रचनाओं की सूची भी बड़ी है और सभी रचनायें इनके गौरव को बढ़ाने वाली है।

रचनाये—साकेत, द्वापर, यशोधरा, मंगलघट, जयद्रथ बध, भारत भारती, रंग मे भंग, शकुन्तला, कसान, पत्रावली, बैतालिक, स्वदेश संगीत, पंचवटी, हिन्दू, त्रिपथगा, गुरुकुल, शक्ति, बन-वैभव; सिद्धराज, बिकट भट, झङ्कार, नहुष।

नाटक—तिलोत्तमा, चन्द्रहास, अनघ।

अनुवाद काव्य—मेघनाद वध, वीरांगना, विरहिणी ब्रजांगना, पलासी का युद्ध, उमर खैयाम।

साकेत-वर्णन

देख लो, साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन मे जा रही।
केतु-पट अंचल सदृश है उड़ रहे,
कनक-कलशो पर अमर-दृग जुड़ रहे।

सोहती हैं विविध-शालायें बड़ी .
छत उठाये भित्तियाँ चित्रित खड़ी ।
गेहियों के चारु-चरितों की लड़ी .
छोड़ती है छाप जो उन पर पड़ी !

स्वच्छ, सुन्दर और विस्तृत घर बने .
इन्द्र धनुषाकार तोरण हैं तने ।
देव दम्पति अट्ट देख सराहते .
उतर कर विश्राम करना चाहते !

फूल-फलकर फैलकर है जो बड़ी ,
दीर्घ छज्जों पर विविध बेलें चढ़ी ।
पौर कन्याएँ प्रसून - स्तूप कर ,
वृष्टि करतो हैं गवाक्षों में कढ़ ,
(प्रकृति से ही वे गये मानो गढ़े ।

दामिनी भीतर दमकती है कभी ,
चन्द्र की माला चमकती है कभी ।
सर्वदा स्वच्छन्द छज्जों के तले ,
प्रेम के आदर्श पारावत पले ।

केश - रचना के सहायक हैं शिखी ,
चित्र में मानो अयोध्या है लिखी !

उर्मिला का सौन्दर्य

अरुण पट पहने हुए आल्हाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ?
कान्ति की किरणें उजेला कर रही ?

यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ में ढाली गई।
कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला!

जान पड़ता नेत्र देख बड़े-बड़े—
हीरकों में गोल नीलम है जड़े।
पद्मरागों से अधर मानो बने;
मोतियों से दाँत निर्मित है घने।

और इसका हृदय किसमें है बना?
वह हृदय ही है कि जिससे है बना।
प्रेम-पूरित सरल कोमल चित्त से,
तुल्यता की जा सके किस वित्त से?

शाण पर सब अंग मानों चढ़ चुके,
प्राण फिर उनमें पड़े जब गढ़ चुके,
झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है।

लोल कुंडल मण्डलाकृति गोल है,
घन-पटल-से केश, कान्त-कपोल है
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी,
दमकती है दामिनी-सी द्युति भरी।

है करों में भूरि भूरि भलाइयाँ,
लचक जाती अन्यथा न कलाइयाँ?
चूड़ियों के अर्थ, जो है मणि मयी,
अङ्ग की ही कान्ति कुंदन बन गई।

एक ओर विशाल दर्पण है लगा,
पार्श्व से प्रतिबिम्ब जिसमें है जगा।
मन्दिरस्था कौन यह देवी भला ?
किस कृती के अर्थ है इसकी कला ?

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला,
नाम है इसका उचित ही "उर्मिला"।
शील सौरभ की तरंगें आ रहीं,
दिव्य-भाव भवाब्धि में हैं ला रहीं।

उभय वरदान

मानिनी बोली निज अनुरूप—
"न दोगे वे दो वर भी भूप!"
कहा नृप ने लेकर निःश्वास—
"दिलाऊँ मैं कैसे विश्वास ?

परीक्षा कर देखो कमलाक्षि!
सुनो तुम भी सुरगण, चिरसाक्षि!
सत्य से ही स्थिर है संसार,
सत्य ही सब धर्मों का सार।

राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,
सत्य पर सकता हूँ सब वार।"
सरल नृप को छलकर इस भाँति,
गरल उगले उरगी जिस भाँति।

भरत-सुत-मणि की माँ मुद मान,
माँगने चली उभय वरदान—
"नाथ, मुझको दो यह वर एक—
भरत का करो राज्य-अभिषेक।

दूसरा यह दो, न हो उदास,
चतुर्दश वर्ष राम वन बास।"
वचन सुन ऐसे क्रूर कराल,
देखते ही रह गये नृपाल।

वज्र सा पड़ा अचानक टूट,
गया उनका शरीर-सा छूट।
उन्हे यों हतज्ञान- सा देख,
ठोकती- सी छाती पर मेख।

पुनः बोली वह भौंहे तान—
"मौन हो गये, कहो हाँ या न।"
भूप फिर भी न सके कुछ बोल,
मूर्ति-से बैठे रहे अडोल।

दृष्टि ही अपनी करुण-कठोर,
उन्होने डाली उसकी ओर।
कहा फिर उसने देकर क्लेश—
"सत्य - पालन है यही नरेश ?

उलट दो बस तुम अपनी बात,
मरूँ मै करके अपना घात।"
कहा तब नृप ने किसी प्रकार—
"मरो तुम क्यों, भोगो अधिकार।

मरूँगा तो मै अगति - समान,
मिलेंगे तुम्हे तीन वरदान।"
देख ऊपर को अपने आप
लगे नृप करने यों परिताप—

"देव यह सपना है कि प्रतीति ?
यही है नर-नारी की प्रीति ?
किसी को न दें कभी वर देव,
वचन देना छोड़े नर-देव।

दान में दुरुपयोग का वास,
किया जावे किसका विश्वास ?

सीता और ऊर्मिला

सीता और न बोल सकी,
गदगद कंठ न खोल सकी।
इधर उर्मिला मुग्ध निरी—
कहकर "हाय!" धड़ाम गिरी!

लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये,
सबने दो दो बूँद दिये!
कहा सुमित्रा ने — "बेटी!
आज मही पर तू लेटी!"

"बहन! बहन!" कहकर भीता
करने लगी व्यजन, सीता।
"आज भाग्य जो है मेरा
वह भी हुआ न हा! तेरा!"

माताएँ थीं मूर्ति बनी;
व्यग्र हुए प्रभु धर्म-धनी।
युग-भी कम थे उस क्षण में:
बोले वे यों लक्ष्मण से—

"अनुज, मार्ग मेरा लेकर,
संग अनावश्यक देकर।

सोचो अब भी तुम इतना—
भंग कर रहे हो कितना।
हठ करके, प्यारे भाई,
करो न मुझको अन्यायी।"
"हाय! आर्य रहिए, रहिए,
मत कहिए, यह मत कहिए।
हम संकट को देख डरें,
या उसका उपहास करें?
पाप-रहित सन्ताप जहाँ,
आत्म-शुद्ध ही आप वहाँ।"
"लक्ष्मण, तुम हो तपस्पृही,
मैं वन मे भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही,
हुए वस्तुतः तुम दो ही।"
कहा सुमित्रा ने तब यों—
"निश्चय पर वितर्क अब क्यों?
जैसे रहे रहेंगी हम,
रोकर सही, सहेंगी हम"

मिलन

"विरह रुदन मे गया मिलन मे भी मै रोऊँ;
मुझे और कुछ नही चाहिए, पद रज धोऊँ।
जब थी तब थी आलि, उर्मिला उनकी रानी,
वह बरसो की बात, आज होगयी पुरानी।
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नही आज सेवा की प्यासी

युवती हो या आलि, उर्मिला बाला तन से,
नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से ?
देखूँ, वह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को,
या सजबज कर आप दिखाऊँ मैं अपने को ?
सखी, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको
लज्जा उनके हाथ व्यर्थ चिन्ता है तुझको।

उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली,
निरख तनिक तू आज ढीठ सन्ध्या की लाली!
मान करूँगी आज ? मान के दिन तो बीते,
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मन चीते।

टपक रही वह कुंज शिला वाली शेफाली,
जा नीचे, दो चार फूल चुन, लेआ डाली!
वनवासी के लिये सुमन की भेंट भली वह!"
"किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली!" यह
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने सखी किधर थी ?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी!

यशोधरा

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात;
पर चोरी - चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?
मुझको बहुत उन्होने माना;
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन मे लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्रधर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था त्यागा;
रहे स्मरण ही आते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे रहते,
गये तरस ही खाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

जाँय, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?—
आज अधिक वे भाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

गये लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

राहुल-जननी

(१)

चेरी भी वह आज कहाँ कल थी जो रानी ;
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यो मन यह मानी ?
अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखो मे पानी !

मेरा शिशु - संसार यह
दूध पिये, परिपुष्ट हो ,
पानी के ही पात्र तुम
प्रभो, रुष्ट या तुष्ट हो,

(२)

यह छोटा-सा छौना !

कितना उज्जवल, कैसा कोमल, क्या ही मधुर-सलौना !
क्यो न हँसूँ—रोऊँ—गाऊँ मैं, लगा तुझे यह टौना ;
आर्यपुत्र, आओ, सचमुच मै दूँगी चन्द खिलौना ।

(३)

(राहुल)

"अम्ब, दमयन्ती की कहानी मुझे भाई है ,
और एक बात मेरे ध्यान मे समाई है ।
तूभी एक हंस को बना के दूत भेज दे ,
जो सन्देश देना तूहो उसी को सहेज दे ।

(यशोधरा)

बेटा, भला वैसा हंस पा सकूँगी मैं कहाँ ?

(राहुल)

हंस न तो मेरा कीर तो पला यहाँ।

(यशोधरा)

किन्तु नहीं सूझता है उनसे मैं क्या कहूँ ?

(राहुल)

पूछ यही बात और कब तक मैं सहूँ ?”

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म संवत् १९४५ है। खण्डवा से प्रकाशित पत्र 'कर्मवीर' के ये सम्पादक और संचालक हैं। कविता मे इनका उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' चलता है। चतुर्वेदीजी सफल लेखक, सफल कवि और सफल वक्ता हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के हरद्वार अधिवेशन के ये सभापति रहे और वहाॅ इनका रुपयो मे तुलादान हुआ जो हरद्वार निधि के नाम से हिन्दी प्रचार और सेवा-कार्य मे लगाई जा रही है। सम्मेलन के किसी भी सभापति को यह गौरव नही मिला। हिंदी जगत में जब तक हरद्वार निधि चलती रहेगी चतुर्वेदीजी अमर रहेगे। आप मृदुभाषी, सरल और आदर्शवादी व्यक्ति है। राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी आपकी सेवायें मानी जा चुकी है।

महात्मा गाॅधी के अभ्युदय के साथ जो राष्ट्रीयता ने जोर पकड़ा और जन-आन्दोलन के कार्य चालू हुए उनमे मध्यप्रान्त के प्रसिद्ध सहयोगियो मे चतुर्वेदीजी का स्थान है। इनकी राष्ट्रीय कविताओ का आरम्भ भी इसी प्रगति के साथ हुआ था। इनकी कविताओं मे इनके उपनाम के अनुकूल इनकी राष्ट्रीय भावना मिलती है। हिन्दी कविता की प्रगति जब छायावाद की ओर हुई चतुर्वेदीजी की राष्ट्र-भावना भी रहस्य की ओर चल पड़ी। साहित्य की नई धारा के साथ इस सहयोग मे भी चतुर्वेदीजी प्रधानतः राष्ट्रीय भावना से ही आये। देश की स्वतन्त्रता और हिन्दू संस्कृति का उत्थान इनकी रचनाओं का परम लक्ष्य है।

काव्य-गुण—राष्ट्रीय भावना के कारण इनकी कविता में प्रकृति भी राष्ट्रीय चेतना मे पूर्ण रहती है। दक्षिण विन्ध्य (सतपुडा) की प्राकृतिक छटा देश के अतीत की गौरवगाथा है जो सदैव से चली आ रही है। इनके फूल सुरसुन्दरियों, सम्राटों और देवताओं का संसर्ग न चाहकर उन वीरो के चरणो पर रहना चाहते है जो स्वतन्त्रता के संग्राम मे शहीद होते हैं। इनकी कोयल की करुण ध्वनि परतन्त्र देश की करुण रागिनी है। चतुर्वेदीजी द्विवेदी काल के कवि है। इसलिए अर्थगौरव की ओर इनकी प्रवृत्ति अधिक है। प्रकृति वर्णन मे यह नई कल्पना से काम लेते है। गिरि, निर्झर, लता, नदी, सब कही इन्हें मानवी चेतना और अनुभूति मिलती है। इनके भीतर भी मानवी स्पन्दन पैदा करना इनका काम है। मनुष्य का जो सम्बन्ध इस विराट प्रकृति के साथ है, उसमे उन्होने व्यक्तित्व प्रदान किया है।

भाषा और शैली—इनका अभिव्यंजनाये, कोमल, मार्मिक और विवेकपूर्ण होती है। इनकी भाषा खडीबोली है जिनमे संस्कृत शब्दो के साथ उर्दू और फारसी के शब्दो का भी यह प्रयोग करते है।

रचनायें—हिमकिरीटिनी।

गद्य—साहित्य देवता, कृष्णार्जुन युद्ध।

बलि पंथी से

मत व्यर्थ पुकारे शूल शूल,
कह फूल फूल, सह फूल फूल।

हरि को हीतल मे बन्द किये। केहरि से कह नख हूल हूल।
कागों का सुन कर्त्तव्य राग। कोकिल कलरव को भूल भूल॥
सुरपुर ठुकरा आराध्य कहे, तो चल रौरव के कूल कूल।
भूखंड बिछा आकाश ओढ, नयनोदक ले मोदक प्रहार,
ब्रह्माण्ड हथेली पर उछाल, अपने जीवन धन को निहार॥

स्वागत

'जय हो।' उषःकाल है, सायें, माँका स्वागत कौन करे?
चरणों मे मेरी कालिन्दी की अर्पित काली लहरें।

भूतकाल का गौरव, भावी की उज्जवल आशाये ले,
लाट, किला, मीनार सभी को अपने दाएँ बाएँ ले,
इस तट पर बैठी बैठी मै व्याकुल बिता रही घड़ियाँ,
चिन्तित थी ये बिखर न जायें बन कुसमों की पंखड़ियाँ।

यमुना का कलरव दुहरा कर कब से स्वागत गाती हूँ,
हरि जाने स्वागत गाती हूँ या सौभाग्य बुलाती हूँ।
देवि! तुम्हारे पंकज कुसुमो से दुखिया खिलना सीखे!
वीणा से मेरी टूटी वीणा का स्वर मिलना सीखे।

हो अंगुलि-निर्देश ज़रा, मै भी मिज़राब लगा पाऊँ,
लाओ पुस्तक विश्व हिलाऊँ, कोई करुण गीत गाऊँ।
लजवन्ती को लज्जित करती है, हा हा मेरी गलियाँ,
चढ़ने को तैयार नही सकुचाती है सुन्दर कलियाँ।

झरना

कितने निर्जन मे दीखा, रे मुक्तहार वाणी के।
कवि, मंजुल वाणी धारी माँ जननी कल्याणी के॥
किस निर्झरिणी के धन हो? पथ भूले हो किस घर का?
है कौन वेदना, बोलो! कारण क्या करुणा स्वर का?

मेरी वीणा की कटुता धो डाल तरल तारो से,
मै तुझसा पागल हो के बह उठूँ नयन द्वारो मे।
चढ़कर, गिरकर फिर उठकर, कहता तू अमर कहानी।
गिरि के अंचल मे करता कूजित कल्याणी वाणी॥

इस ध्वनि पर प्रतिध्वनि करती रह रहकर पर्वत माला।
यह गुफा गीत गाती है ओढ़े नव हरा दुशाला॥
बेजाना नाद सुनाता जानासा जी मे पाता।
अवनी तल क्या हीतल मे तू शीतल धूम मचाता॥

क्या तूने ही नारद का सिखलाया ता ना ना ना।
क्या तुमसे ही माधव ने सीखा था मुरलि बजाना॥
क्या मेरे गीत मधुर है? पड़ गया तुम्हारा पानी?
ऊँचे नीचे टीलो स मैने कब कहा कहानी?

पाषाणो मे लड़कर भी, ठंडक कब मैने जानी?
कब जी का मल धो पाया मेरी आँखो का पानी?
कब श्रमित पा सके मुझ मे, शीतल तुषार की धारा।
मैने प्रियतम के रुख पर गिर कब रुककर पथ धारा॥

कब मेरी बूँदो, मेरे है तट हरियाले होते?
कब ग्वाले मुझमे आकर, अपने पावों को धोते?
मै गीत साँस मे गूँथ कब, हर आठ पहर गाता हूँ?
कब रवि शशि का समता मे स्वागत मै कर पाता हूँ?

मैं भूमण्डल की, कृति मे, हूँ कुंभीपाक बनाता।
तू स्वर्गगा बन करके सुरलोक मही पर लाता॥
लय मेरी प्रलय न करती तरुणो के हिये उतर के।
तू कलरव कहला लेता पक्षी दल पागल कर के॥

मेरी गरीब करुणा पर 'वे' मस्तक डोल न पाते।
तेरी गति पर तरु तृण है, अपनी फुनगियाँ हिलाते॥

मै पथ के अवरोधो से, पथ भूला रुक जाता हूँ।
भारी प्रवाह होकर भी विषयों मे चुक जाता हूँ॥
पर तेरे पथ को रोकें जिस दिन काली चट्टानें।
साथी तरुलता भले ही तुझ को लग जॉय मनाने॥
तब भी तू जरा ठहर कर सोकर संग्रह कर अपने।
चट्टानो के मंसूबे चढ़-चढ़कर देता सपने॥
तू हृदय बेध बज्रो के, ले अपनी मना शीतल।
प्रियतम प्रदेश चल देता, भर श्याम भाव से हीतल॥
मै उपकारो के प्रति भी ममता बारूद बनाता।
हूँ अपनी कुटी जलाता, उसके घर आग लगाता॥
तू 'मित्र-प्रमत्त' करो मे ग्रीषम मे प्राण सुखाता।
पर उसका स्वागत गाकर, किरणो पर अर्घ्य चढ़ाता॥
तेरे गीतो के प्यारे! बूँदें न सूखने पाती।
विस्मृति पथ जाहा करता अपना शृङ्गार बनाती॥
पर पंछी दल ने तेरे गीतो का ज्ञान किया है।
हरि ने तेरी वाणी को अमरत्व प्रदान किया है॥
क्या जाने तरु-पखेरू तुझको लख क्यो जीते है?
तेरा कल कल पीते है, या तेरा जल पीते है?
अपने पंखो से किसने नभ-छेदन इन्हे सिखाया?
आकाश लोक का किसने इनको गन्धर्व बनाया?
श्यामल घन? श्वासो जैसी बॉसुरी न दिखलाती है।
पर तेरे गीतो की धुन, स्वच्छन्द सुनी जाती है॥
ये छोटे छोटे तरुवर रह रह तालें देते हैं।
तुझसे प्रसाद मे प्यारे, ठंड़े मोती लेते है।
कितने प्यारे तरु फूले, कलियो का मुकुट लगाये।
पर तेरी गोदी मे है, वे अपना शीश झुकाये॥

फूलों को श्याम ! चढ़ाकर जब वे सुगन्ध देते हैं।
पत्ते पंखे बन, मारुत जब मन्द मन्द देते हैं॥
तू अपने पास न रखकर ज्यों का त्यों उन्हें बहाता।
लहरों मे नचा नचा कर प्रियतम के घर ले जाता॥

वन माली बन तरुओं मे तुम भी खिलवाड मचाते।
गिरि शिखर, गोद लेने मे तुम पर है होड लगाते॥
जब श्यामल घन आजाते तुझ पर जीवन ढुलकाते।
हँस-हँसकर इन्द्र धनुष का वे मुकुट तुझे पहनाते॥

मानो वे गले लिपट के कहते उपकार अमित है।
साँवले तुम्हारी करुणा, बस तुमको ही अर्पित है॥

जयशंकर 'प्रसाद'

कविवर 'प्रसाद' का जन्म काशी के प्रसिद्ध वैश्य घराने में हुआ था। इनके पिता बाबू देवीप्रसाद उर्फ सुंघनी साहु, अपने समय के सब से अधिक प्रसिद्ध सुंघनी, जर्दा सुती के व्यापारी थे। इनके पास लाखों की सम्पत्ति थी जिसके उपयोग में भी ये उदार थे। 'प्रसाद' जी का जन्म इस सम्पन्न परिवार में संवत् १६४६ में हुआ। बचपन से ही इनका पालन-पोषण सुरुचिपूर्ण लाड प्यार के साथ हुआ। किन्तु अभी काशी के क्वीन्स स्कूल में ये मिडिल तक अँग्रेजी पढ़ पाये थे कि इनके पिता का देहान्त हो गया। इस कारण उन्हें स्कूल छोड़कर घर पर ही कई अध्यापक रख कर संस्कृत, फारसी, अँग्रेजी और उर्दू का अभ्यास करना पड़ा। काशी के उस समय के कई प्रसिद्ध वैश्य परिवारों की तरह इनके परिवार में भी शास्त्र चर्चा के लिये उस समय के विद्वान आया करते थे जिसका प्रभाव 'प्रसाद' जी पर पूरा पड़ा। अभी यह १७ वर्ष के थे कि इनके बड़े भाई की भी मृत्यु हो गई। इसका फल यह हुआ कि परिवार और व्यवसाय का सारा भार इन पर आ पड़ा जिसे इन्होंने सावधानी और लगन के साथ सम्हाला। परिवार की पूर्व प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए ये अपना विद्याव्यसन भी बढ़ाते गये।

'प्रसाद' अध्ययनशील थे और स्वतन्त्र रूप से विचार करने में अधिक समय देते थे। भारतीय इतिहास और पुरातत्व पर

इनके कई स्वतन्त्र लेख है जिनमे इनके गंभीर अध्ययन और मौलिक विवेचन का आभास मिलता है। साहित्य के विभिन्न अंगो की ओर इनकी रुचि बचपन से ही चली आई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काशी मे साहित्य का जो वातावरण तैयार किया था, 'प्रसाद' के विकास मे वह भी सहायक हुआ। 'प्रसाद' के जीवन का उद्देश्य इधर पिछले एक युग के लिये केवल साहित्य-सेवा बन गया था। इनका स्वभाव सरल और आकर्षक था। साहित्यकारो की गोष्ठी प्राय प्रतिदिन इनके यहाँ देखी जाती थी। अभी कवि-वर 'प्रसाद' से हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ आशा थी कि अचानक केवल ४८ वर्ष की आयु मे कार्तिक शुक्ला ११ सवत् १९९४ मे उनका क्षय रोग से देहान्त हुआ। 'प्रसाद' का गद्य साहित्य भी विस्तृत है जिसमे इनके कइ प्रसिद्ध नाटक, उपन्यास और कहानी सग्रह आते है।

काव्य-गुण—भावो की गभीरता, दार्शनिक विचार धारा इनकी रचनाओ मे अधिक है। 'प्रसाद' भावुकता की लहर में बराबर बहते गये है। उनके इस भावावेश मे श्री मैथिलीशरणजी की विवेक-प्रियता नही है। चरित्र चित्रण भी न तो वे स्वाभाविक कर सके है और न रोचक। मानव जीवन की अनुभूति जो कुछ उनके काव्यो और नाटको मे मिलता है अतिरञ्जित और बहुत अंशो मे तो असत्य है। उनकी दार्शिनिकता पाठको की बुद्धि मे भ्रम पैदा कर सकती है, कोई निश्चित विचार धारा नही देती। इनकी रचनाओ में निराशा, अवसाद और तन्द्रा की दशाये अधिक है। प्राकृतिक विवेक, सजग और सचेत जीवन कम मिलता है। इस धरती पर मनुष्य का स्वाभाविक जीवन कैसा है? किन-किन परिस्थितियो मे उसकी मानसिक दशा कैसी हो सकती है। इसकी चिन्ता उन्होने नही की। कल्पना के पख पर चढ़कर उन्होने बहुत ऊपर से इस धरती के जीवो की ओर देखा है और

इस तरह से देखने मे वे रोचकता, कोमलता, आकर्षण और मोह-मयी वेदना तो पैदा कर सके है, केवल सत्य नही पैदा कर सके।

भाषा और शैली—दार्शनिक भावनाओ के कारण इनकी रचनाये आकर्षक और रोचक है किन्तु कही-कही दुरूह भी हो उठी है। इनके काव्य मे भी नाटकत्व के गुण हैं।

भाषा इनकी आरम्भ मे तो ब्रज थी। 'चित्राधार' और उस समय के नाटको के पद्यो में इन्होने इसी भाषा का व्यवहार किया है। बाद को खड़ी बोली की प्रगति के साथ यह अग्रसर होते गये और आधुनिक छायावाद तक बढ़ते आये।

इनका सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायनी' है जिस पर इनकी मृत्यु के बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने मंगला प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया।

रचनायें—कामायिनी, आँसू, लहर, कानन कुसुम, महाराणा का महत्त्व, प्रेम पथिक, चित्राधार, झरना और करुणालय।

नाटक—स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुव स्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ और राज्यश्री।

उपन्यास, कहानी—कंकाल, तितली, छाया, आकाशदीप, इन्द्रजाल, प्रतिध्वनि और आँधी।

श्रद्धा

सुना यह मनु ने मधु गुंजार,
मधुकरी का-सा जब सानंद,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यो सुंदर छंद;

एक झिटका सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम-वैभव मे लता समान
चन्द्रिका मे लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृत वाह्य उदार
एक लबी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीडित ज्यो शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ सयुक्त।

मसृण गांधार देश के, नील
रोम वाले मेषो के चर्म,
ढंक रहे थे उसका वपु कात
बन रहा था वह कोमल वर्म।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यो बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रग।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हो घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम।

या कि, नव इन्द्र नील लघुशृंग
फोड़कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत।

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंश अविलंबित मुख के पास
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास

और उस मुख पर वह मुसक्यान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

उषा की पहिली लेखा कांत,
माधुरी से भीगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध ;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिंब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध !

श्रद्धा की कुटी

"मैने तो एक बनाया है
चलकर देखो मेरा कुटीर"
यों कहकर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहीं अधीर।

उस गुफा समीप पुआलों की
छाजन छोटी सी शांति-पुंज ;
कोमल लतिकाओं की डालें
मिल सघन बनाती जहाँ कुंज।

थे वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र,
आवें क्षण भर तो चले जॉय
रुक जॉय कहीं न समीर, अभ्र।

उसमें था झूला पड़ा हुआ
वेतसी लता का सुरुचि पूर्ण ;
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभि चूर्ण।

कितनी मीठी अभिलाषायें
उसमें चुपके से रहीं घूम !

कितने मंगल के मधुर गान
उसके कोनो को रहे चूम !

मनु देख रहे थे चकित नया
यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान।
पर कुछ अच्छा सा नहीं लगा
'यह क्यो ? किसका सुख साभिमान ?'

चुप थे पर श्रद्धा ही बोली
"देखो यह तो बन गया नीड़ ;
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।

तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्तन मे स्वर विभोर—
'चल री तकली धीरे धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर

आरोहण

ऊर्ध्व देश उस नील तमस मे
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी ;
पथ थक कर है लीन चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी।

दोनों पथिक चले हैं कब से
ऊँचे ऊँचे चढ़ते चढ़ते ;
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस उत्साही मे बढ़ते ॥

पवन वेग प्रतिकूल उधर था
कहता, 'फिर जा अरे बटोही !
किधर चला तू मुझे भेद कर ?
प्राणों के प्रति क्यों निर्मोही ?'

छूने को अंबर मचली सी
बढ़ी जा रही सतत ऊँचाई ;
विक्षत उसके अंग प्रकट थे
भीषण खड्ड भय करी खाईं ।

रवि कर हिम खंडों पर पड़ कर
हिमकर कितने नये बनाता ;
द्रुत तर चक्कर काट पवन भी
फिर से वहीं लौट आ जाता ।

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुर-धनु माला पहने ,
कुंजर - कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने ।

प्रवह मान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्झर ऐसे ;
महा श्वेत गजराज गंड से
बिखरी मधु धारायें जैसे ।

हरियाली जिनकी उभरी, वे
समतल चित्र पटी से लगते,
प्रतिकृतियों के बाह्य रेख से
स्थिर, नद जो प्रति पल थे भगते।

लघुतम वे सब जो वसुधा पर
ऊपर महा शून्य का घेरा,
ऊँचे चढ़ने की रजनी का
यहाँ हुआ जा रहा सवेरा।

'कहाँ ले चली हो अब मुझको
श्रद्धे! मैं थक चला अधिक हूँ।
साहस छूट गया है मेरा
निस्संबल भग्नाश पथिक हूँ।

लौट चलो, इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा,
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अड़ न सकूँगा।

मेरे, हाँ वे सब मेरे थे
जिनसे रूठ चला आया हूँ,
वे नीचे छूटे सुदूर, पर
भूल नहीं उनको पाया हूँ।"

वरुणा की कछार

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन कुञ्ज!
जगत नश्वरता के लघु त्राण, लता, पादप, सुमनों के पुञ्ज!
तुम्हारी कुटियों मे चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि सन्धि, गूँजता था जिससे संसार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारे कुञ्जों मे तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के सम्वाद।
स्निग्ध तरु की छाया मे बैठ, परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार?

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

छोड़कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार।
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक सम्वाद, तथागत आया तेरे द्वार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

मुक्ति जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शान्त।
तिमिर का हरने को दुख भार, तेज अभिलाष अलौकिक कान्त।
देव कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बन्ध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार—

छोड़कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व-मानवता का जय घोष, यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र।
मिला था वह पवन आदेश, आज भी साक्षी है रवि-चन्द्र।

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार।
सकल वसुधा को दे सन्देश, धन्य होता है बारम्बार।
आज कितनी शताब्दियों बाद, उठो ध्वंसों में वह झंकार।।
प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगन्त, विश्व वाणी का बने विहार।।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

'भक्त' जी का जन्मस्थान जमानिया, ज़िला गाज़ीपुर है। इनका जन्म भादों कृष्णा २ संवत् १६५० में हुआ था। इनको अँग्रेज़ी शिक्षा पूरी मिल चुकी है। आप बी० ए०, एल-एल बी० और आजमगढ़ म्यूनिसिपल बोर्ड में एकज़िक्यूटिव आफिसर है।

"नूरजहाँ" ने श्री 'भक्त' जी के काव्ययश का विस्तार किया है। इस काव्य में 'भक्त' जी ने अपनी कल्पना से नये अवतरणो की सृष्टि की है। देव पुरस्कार प्रतियोगता में इस काव्य को दूसरा स्थान मिला था जिसके लिये आपको एक प्रमाण पत्र मिला।

काव्य-गुण—गुरुभक्तसिंहजी प्रकृति के कवि हैं। इनका प्रकृति वर्णन रोचक और स्वाभाविक होता है। प्रेम, विरह और कर्तव्य के आदर्श भी आप ऊँचे धरातल का पैदा कर पाये हैं। आपने वर्णित विषयों के सुन्दर शब्द-चित्र भी दिये हैं।

भाषा और शैली—भावों की कोमल व्यञ्जना, संवादों के भीतर मनोवैज्ञानिक पुट, उत्सुकता और उत्कण्ठा के अवतरण इनकी विशेषतायें हैं। भाषा इनकी खड़ी बोली है। जिसमें व्रज का-सा रस और श्रुतिमधुर ध्वनि पैदा हो गई है। 'नूरजहाँ' की रचना कवि ने महाकाव्य के रूप में की है। नूरजहाँ का जीवन जो कुछ इतिहास से ज्ञात है अपने किन गुणों और किन आदर्शों पर महाकाव्य के प्रधान चरित्र का पद ले सकता है? इस पर कवि

ने विचार नहीं किया। हिन्दी का कोई अन्य कवि क्लियोपैट्रा या अन्य विजातीय नारी के भावविलास, प्रेम के मोहक और मादक आश्रय को लेकर यदि उसमे कवित्व शक्ति हो, काव्य रचना कर डाले तो अपने काव्यगुणो पर तो वह अवश्य ही जीवित रहेगा, किन्तु महाकाव्य के प्रधान चरित्रो का चुनाव कुछ अधिक विवेक और संयम के साथ होना चाहिये। भारतीय पद्धति के अनुसार महाकवि को महाकाव्य की प्रेरणा अपने चरित्र नायक या नायिका के सात्विक गुणो से ही मिला करती है। वह अपने चरित्र नायक का भक्त होता है। 'नूरजहाँ' मे गुरुभक्तसिह जी की निष्ठा-विशेष विचारणीय है।

रचनायें—नूर जहाँ, वशीध्वनि, सरस सुमन, कुसुम कुञ्ज।

मेहर की शैशव शोभा

इन घासो के मैदानो मे, इन हरे-भरे मखतूलो पर।
इन गिरि शिखरो के अको मे, इन सरिताओ के कूलो पर॥
जो रहा चाटता ओस रात भर प्यासा ही था घूम रहा।
वह मारुत पुष्पो का प्याला खाली कर कर है झूम रहा॥

पर्वत के चरणो मे लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है।
जिसमे झरने की झर झर है, फूलो ही से जो पाटी है॥
उसके तट के सुरम्य भू पर, झाडी के झिलमिल घूँघट मे।
है नई कली इक झाँक रही लिपटी ासो ही के पट मे॥

कैसी प्यारी वह कलिका है—नवजात बालिका सोई है।
वह पडी अकेली दख रही है पास न उसके कोई है॥
हैं खेल रही उससे आकर क्वाँरी क्वाँरी हिम बालाये।
हो गई निछावर इस छवि पर नभ की सब तारक मालायें॥

यह नव मयंक है उगा हुआ चारों दिशि छिटके तारे हैं।
ऊषा ने किये निछावर ये मोती, जो प्यारे प्यारे हैं॥
स्वर लहरी तो खेल रही परदे मे जननी वीणा है।
इस भूमण्डल की मुँदरी का यह कन्या सुघर नगीना है॥

मृदु कलियाँ चुटकी बजा बजाकर बच्चे को बहलाती हैं।
कोमल प्रभात किरणें हिमकण मे नहा नहा नहलाती हैं॥
यह भावी के रहस्यमय अभिनय की पहली ही झाँकी है।
यह सुभग चित्र किसने खींचा ? क्या मूर्ति गढ़ी यह बाँकी है॥

सुरभित पुष्पो की रज औ लेकर मोती का पानी।
हिम बालाओ के कर मे जो गई प्रेम से सानी॥
पृथिवी की चाक चला कर दिनकर ने मूर्ति बनाई।
छबि फिर बसंत की लेकर उसमे डाली सुघराई॥

चरखे नक्षत्रो के चल थे सूत कातते जाते।
उनको लपेट रवि, कर से, थे ताना-सा फैलाते॥
सुन्दर विहँग आ जाकर जिसमे बनते थे बाना।
फिर सान्ध्य जलद भर जाता तितली का रंग सुहाना॥

ऐसे अनुपम पट मे थी शोभित वह विश्व निकाई।
जिसकी छवि निरख निरख कर मोहित थी विधि निपुणाई॥

बन की सरिता

गहन विपिन मे भूली भूली आई इक सरिता के तीर।
सहस करो मे खीच रहा है दिननायक जिसका वह चीर॥
बेपानी होने के भय से कृष्ण कृष्ण चिल्लाती है।
मीन ब्याज तड़पी जाती है, लहर ब्याज बल खाती है॥
अचल बने गिरि निरख रहे हैं पत्थर की करके छाती।
पानी खो, पानी पानी हो तरुणी है रोती जाती॥

किन्तु खड़ा नटनागर हो परदे में उस निर्झर के।
जल प्रपात का अम्बर देकर आब रवाँ का पट दे दे॥
मद मन्थन कर दिया सूर्य का, कर अनंत उस सारी को।
लज्जित हो फिर डूब गया रवि शीश नवा बनवारी को॥

बंगाल की रम्यता

शंकर जटा जाल से गंगा निकली हुई चढ़ी आती।
जहाँ ब्रह्मपुत्रा मानस से निकली हुई बढ़ी आती॥
जहाँ गले मिल मिल कर फिर दोनो सरितायें हुईं निहाल।
बिछ है गया उमँग कर भूपर अगणित स्नेह स्रोत का जाल॥
रज लाई है मिला मिला कर जीवन मे ब्रज मण्डल से।
कृष्णचन्द्र की केलि भूमि से राधावर के पगतल से॥
रामचन्द्र की अवधपुरी से ऋषि मुनियों के आश्रम से।
वीरों की वलिदान भूमि से ब्रह्म ज्ञान के उद्गम से॥
रज—जिसमे विभूतियाँ अगणित मिली हुई हैं सतियों की।
रज—जिसमे समाधियाँ सोई कितने योगी यतियों की॥
रज—वह जिसमे रक्त मिला है अमर शहीदो वीरों का।
जो स्वदेश हित हुए निछावर अटल व्रती रणधीरों का॥
रज जिसको कि किलक किलक कर खाया कुँवर कन्हैया ने।
जिसे निकाला मुख मे मोदक खिला यशोदा मैया ने॥
यह पावन रज त्रिभुज अंक मे सिन्धु निकट वे भर लेती।
उठ उठ कितना जलधि माँगता किन्तु नहीं उसको देतीं॥
प्रकृति नटी का रंगमंच वह रम्य देश पाए बंगाल।
वहाँ पहुँच कर नव दम्पति वह छटा निरख हो गया निहाल॥

सलीम और मेहर के संवाद

दृग मृग चंचल रहे चौकड़ी भरते नभ से भू तक।
निद्रा हरियाली दिखला कर हारी सकी न छू तक॥

फँसे न पलको के फंदे मे जो रजनी ने डाले।
मन मे होड लगा कर उड़ते रहे नयन मतवाले ॥
हत्याकाण्ड, प्राण की आहुति, कठिन प्रेम की लीला।
सका न अधिक देख रमणी का कोमल हृदय रसीला ॥
किसी सोच मे हो विभोर साँसें कुछ ठंडी खींचीं।
फिर झट गुल कर दिया दिया को दोनो आँखे मीची ॥
ले निःश्वास पुनः खोला जो देखा सम्मुख कोई।
लगी सोचने, मैं जगती हूँ सचमुच या हूँ सोई ॥
फिर आँख मल लगी देखने, नजर गड़ा जो डाली।
लख नकाब मे छिपा किसी को, झट तलवार निकाली ॥
बढ़ती हुई तड़प कर बोली "ठहर ! कौन ? क्यो आया ?
कर दूँगी तलवार पार मै पग जो एक बढ़ाया ॥"
खोल नकाब, कहा, सलीम हूँ, मेहर ! मुझे मत रोको।
'शेर' मारकर, बने अकण्टक, करो मदद, मत रोको।
बोलो नहीं बताओ चुपके कहाँ दुष्ट है सोया।
बस, उसका है अन्त आज ही काटेगा जो बोया ॥
कल बंगाल कौन जाता है, भेजूँ उसे जहन्नुम।
और साथ ही साथ तुरत ही चुपके चलो चलो तुम ॥
कौन ? कौन ! क्या तू सलीम है ? क्या सलीम शाहजादा ?
पर घर जाकर, तस्कर बनकर, ऐसा नीच इरादा ?
मेरा तो विश्वास और था, धोखा मैंने खाया।
जाओ, अभी निकल जाओ तुम, पग जो एक बढ़ाया ॥
देती हूँ आवाज अभी मै, चोर पकड़ जाता है।
हत्यारा भी बात बात मे यहीं जकड़ जाता है ॥
पर नारी के घर में घुसना पति का खून बहाने।
फिर भी अपने को सलीम कह आया मुँह दिखलाने ॥

श्री अनूप शर्मा 'अनूप'

अनूपजी का जन्म भादों की अमावस्या को संवत् १९५६ विक्रमी में नवीनगर, जिला सीतापुर में हुआ था। अँग्रेजी शिक्षा आपको बी० ए०, एल-टी० तक मिली है। आप सीतामऊ हाई स्कूल के हेडमास्टर हैं।

'अनूप' जी राष्ट्रीय विचारों के वीर कवि हैं। कवि-सम्मेलनों में कविता पाठ से आपका बड़ा प्रचार हुआ, और लोग आपको 'आधुनिक भूषण' कहने लगे। भिन्न-भिन्न विषयों पर मुक्तक लिखने में भी आपको बड़ी सफलता मिली। आपकी कविता का पूर्ण विकास 'सिद्धार्थ' महाकाव्य में हुआ है। जिसे 'मंगला-प्रसाद' पारितोषिक के निर्णायकों ने दूसरा स्थान दिया था।

काव्य-गुण—वीर रस का वर्णन कवि ने ओज और उत्साह-वर्धक किया है। अपनी व्यापक दृष्टि से ये हमारे भाव और ज्ञान पथ पर आने वाले अनेक विषयों को अपनी कल्पना द्वारा आकर्षक और मार्मिक रूप में उपस्थित करते हैं। भौतिक विज्ञान इतिहास और पुरातत्व द्वारा हमारा ज्ञान जहाँ तक पहुँचा है 'अनूप' जी अपनी कविता को वहाँ तक पहुँचा सके हैं। 'जीवन-मरण' में 'कवि की कल्पना जगत के इतिहास के विविध धरातलों के चित्र लेकर चली है। इसी प्रकार 'विराट भ्रमण' में देवी के आकाशचारी रथ पर बैठकर कवि इस विराट विश्व को अपनी कल्पना की आँखों से देखता है।

भाषा और शैली—ओज और प्रसाद गुण का इतना सुन्दर मेल बहुत कम देखा जाता है। कवि जैसे कविता लिखने का प्रयत्न नही करता, कविता अनायास उसकी वाणी से बह चलती है।

भाषा इनकी आरम्भ में तो ब्रज थी और वर्षों तक इनकी ओजस्विनी कविता उसी मे लिखी गई। बाद को खड़ी बोली का मान ज्यो-ज्यो बढ़ता गया यह भी उसी को अपनाते गये। खड़ी बोली और ब्रज दोनो ही पर इनका समान अधिकार है।

रचनायें—सुनाल, सुमनाञ्जलि और सिद्धार्थ।

विराट-भ्रमण

सुन के निदेस मै सवार हुआ स्यन्दन पै,
छूके अम्ब-चरण प्रमोद हुआ मन मे।
टूटे सभी बधन प्रकृति-परतंत्रता के,
फूल उठा मोद रोम-रोम मेरे तन मे॥
प्राकृत दशा के स्वप्न दिव्य देह पाने लगे,
जाने लगे भौतिक बलाक स्वर्ग-घन मे।
बाग हिलते ही चारो बाजि उडे आतुर हो,
चन्द्र-किरणों के पथ रथ ल गगन मे॥ १॥

घहर-घहर ध्वनि चारो पहियों से उठी,
बागें तनी और अश्व-यान बढ़ने लगा।
फिर से हयो के पत्त धवल-वितान बने,
श्वसन संगीत सानुराग कढ़ने लगा॥

अश्वारूढ़ वायु मे सुमो से रोहिताश्व कण,
निकले गगन उलकाएँ गढ़ने लगा।
चक्रो की रगड़ से अनभ्र वज्र पात कर,
चमके अशनि, रथ ऊँचा चढ़ने लगा ॥ २ ॥

पार कर उन्नत हिमालय-शिखर यान,
बेधकर शुभ्र मेघ-मण्डल बढ़ा जभी।
पूर्व मे प्रलम्ब हुआ प्रकट उषा प्रकाश,
स्वर्ण-शैल मानो नील सिन्धु से कढ़ा तभी ॥
नीचे महा तुहिन-वितान वसुधा मे लसा
सारा अन्तरिक्ष ऋक्ष वृन्द से मढ़ा तभी।
छोड़कर पीछे भूमि शैल, मेघ, विज्जु, यान,
उच्च उच्चतर उच्चतम हो चढ़ा तभी ॥ ३ ॥

नीचे अश्वयान के स-शैल सप्त-सिन्धु भूमि,
ऊपर स-तारक गगन भासमान था।
आगे चन्द्र-दीधित-प्रकाश मार्ग शोधक था
पीछे चिनगारियों से धूलित वितान था ॥
मध्य मे पूँछारे-तारे छोड़ता चला यों रथ,
प्रस्तुत अनूप दृश्य ऐसा छविवान था।
विद्युत थी किन्तु मेघ-मण्डल नहीं था वहाँ,
तारे थे परन्तु न कहीं भी आसमान था ॥ ४ ॥

पीछे दृष्टिगोचर था गोल चक्र पूषण का,
घुमता हुआ जो नील सम्पुटी मे चलता।
मानो जलयान के वितल-पृष्ट-भाग मध्य,
आता चला फेन पीत-पिण्ड-सा उबलता ॥
उछल रहे थे धूम-केतु धुरियों से तीव्र,
यान-केतु ताड़ित भचक्र था उछलता।

मारुत का, मन का प्रवेग पडा पीछे जब,
आगे चला वाजि यूथ आतप उगलता ॥ ५ ॥

चारो ओर देख पड़ा तारक-समूह शुभ्र,
जगमग जगमग ज्योति-जाल होता था।
कोई वक्र गति से पलायमान रोदसी मे,
कोई व्योम-नीड़ मे मराल-सम सोता था॥
कोई शृङ्ग-युक्त बाल-चन्द्र-सा प्रकाशमान
कोई ज्योति-रश्मियो के मध्य अंग धोता था।
कोई भिड़ा एक दूसरे को नष्ट करता था,
कोई डूबता था, कोई उसको डूबोता था॥ ६ ॥

स्यंदन के पथ मे असंख्य सौर-मण्डलो की
सीमा पड़ी, यान व्योम पार करता गया।
मै भी आदि शक्ति-शक्ति-मोहित अनूप बन,
अचरज अमित अपार करता गया॥
पार हुए कितने भुवन करने है पार,
जाना किस लोक का विचार करता गया!
उधर अलौकिक महान यान अम्बिका का
व्योम मे अखण्ड अधिकार करता गया॥ ७॥

पार किया विपुल विशाल वायु-मण्डल भी,
पार किया संस्थिर समीर-पथ क्रम से।
छोड़ गये पीछे गोल मंगल-बृहस्पति के,
छोड़ गये पीछे कद मारे एक दम से॥
और सौर–संसृति–समुद्र–संतरण कर,
आगे बढ़े काम रहा ज्योति से न तम से।
आया एक लोक जो अलौकिक प्रकाश का था,
दूर उस पार, परे प्राकृत नियम से॥ ८॥

जीवन-मरण

एक ही प्रवाह मे प्रवाहित द्विधा हो सृष्टि,
श्रवण कठोरा बनी लोचनाभिराम है।
होता "अस्ति-नास्ति" मे नितान्त अभिभूत चित्त,
जान पडता न दक्षिणा की गति वामा है॥
मौन-मंत्र-प्रेरित अमौन तंत्र फैलता है,
गति अलखित देख देख मति वामा है।
मुखर दिवस के निधन के अनन्त रही,
लेती जन्म तिमिर—तिरोहित त्रियामा है॥६॥

आधुनिक मानवो को नियति अबोध गम्य,
प्राण हालाहल या अमृत-फल-वाले है।
इस ही रहस्य को असंख्य तारको के वृन्द,
देख देख बनते अतीव मतवाले है॥
गणना-विहीन भुवनो के भूरि भूरि भाग्य,
साँचे मे विसर्ग-स्थिति-प्रलय के ढाले है।
भूले हुए कितने जगत-सिन्धु-मन्थनो से,
फेन-बुन्द प्राणियो को विधि ने निकाले है॥१०॥

इससे प्रथम भी यहाँ थी प्राण-गन्ध, जो कि
मृत कृमि-कीट-गुल्म-वल्लरी मे आती है।
सागर-निवासी जन्तुओ की अस्थि-शेष देह,
पाई आज अचल-शिलाओ पर जाती है॥
उन्नत हिमालय-शिरस्थ-अस्थि-पंजरो मे,
मृत्यु निज विजयाभिमान दिखलाती है।
अब भी अंगार-प्रस्तरो मे, जीव-अश्मको मे,
मृत्यु-चिह्न है, पर व्यथा न दृष्टि आती है॥११॥

देखो इस उपल-अवट का निहित दोष,
जीवन कलंक पंक होके स्थिर हो गया।
मृत्यु को अनूप अमृत्व-दान करने को,
अचिर विसार का स्वभाव चिर हो गया ॥
अथवा अनन्त-भावना का सन्त रूप वह,
विकट विरोध में प्रकट फिर हो गया।
एक मूल पै ही समाधारित निकेत एक,
चरण किसी का तो किसी का सिर हो गया ॥१२॥
शून्य प्रस्तरों मे प्रतिध्वनित तरंग हुई,
फूटा स्वर-ग्राम पशुओं में व्यक्ति आ गई।
उनकी अगम्य गति गहन-निवासियों को,
गहन - प्रपंच - भरी रागिनी सिखा गई ॥
शोक-मोह-लालसा क्षुधा तृषा-विषाद-भीति-
भावनामयी हो जीव - तंत्र वसुधा गई।
छूटी जो अमोघ शक्ति प्रकृत समुद्भव से,
जीवन तुमुल कोलाहल मे समा गई ॥१३॥
पशु-नर पैनने सिखाया-वेणु वाद्य जिसे,
पशु-नर-मत्स्य अवतार ने पढ़ाया है।
ऐसे इस मनुज-समाज को प्रथम से ही,
अर्द्ध पशुओं ने राग-रागिनी सिखाया है ॥
प्राथमिक प्रथित संगीत-साधना का स्रोत,
होके हृदयोद्गम उन्हीं से यहाँ आया है।
ख्यात करता है इतिहास, पशु धातृ ने ही,
मानवों के सूतिका निवास को सजाया है ॥१४॥

महाभिनिष्क्रमण

अधीर थे विश्व विपत्ति-भार से,
स-नीर थे लोचन देख आपदा।

खडे खड़े रग - निकेत - द्वारपै,
लगे सुधी छन्दक को पुकारने ॥ १५ ॥

समीप ही था वह सुप्त सारथी,
लखा, निहारा मुख शाक्य वीर का।
कहा, "तमिस्रा अति घोर है, अभी,
चले कहाँ, विस्मय है मुझे प्रभो" ॥ १६ ॥

उपांशु बोले, "तुम विज्ञ सारथी,
तुरंग लाओ अति शीघ्र हे सखे।
समीप आया वह काल है कि मै,
विलास-कारागृह छोड़ दूँ, चलूँ ॥ १७ ॥

मदीय है मानस सार्वभौम ही,
नही रुकेगा वह एक देश मे।
अतः सखे, जाग उठी प्रवृत्ति है,
समस्त - भू मंगल - कामनामयी" ॥ १८ ॥

तदा कहा छन्दक ने विनीत हो,
"अरे प्रभो, क्या करते अनर्थ है ?
कुवाक्य क्या वे गणकाधिनाथ के,
सभी घटेंगे इस घोर रात्रि मे" ॥ १९ ॥

"महान शुद्धोदन सूनु, हाय ! क्या,
फिरा करेगा तज स्वीय राज्य भी ?
कुवाक्य कार्त्तान्तिक के अवश्य ही,
यथार्थ होंगे इस काल-राति मे" ॥ २० ॥

"नृपाल जो हैं अति पुण्य कर्म के,
उन्हे बनाके मृत-तुल्य आप यों।

सदैव भिक्षा पर दत्त-चित्त हो,
कहाँ फिरेंगे, यह तो विचार लें।?" ॥ २१ ॥

कुमार ने उत्तर यों दिया उसे,
यही, सखे, आगम-हेतु जान तू,
स-छत्र-सिहासन राज्य त्याज्य है;
अकार्य है शासन बन्धु-वर्ग पै ॥ २२ ॥

सखे, मुझे तो बनना अवश्य है—
समस्त - भू - मण्डल-राजराज ही,
न स्वीय आनन्द-विधान-हेतु जो—
न प्रेम सो सत्य, मृषा प्रपंच है ॥ २३ ॥

नृपाल से, शासन से, कलत्र से,
सभी प्रजा है, सब जीव-मात्र से,
प्रगाढ़ है स्नेह, इसीलिये उठी
मही - समुद्धार - उपाय-कल्पना ॥ २४ ॥

"तुरंग लाओ अतएव शीघ्र ही,
समीप सकल्प, विकल्प दूर है।"
चला तदा छन्दक अश्वगेह को
सँवार के कन्थक ला खड़ा किया ॥ २५ ॥

अभीषु थी सुन्दर श्वेत रंग की,
अलक्त पर्य्याण नवीन था पड़ा,
लगी हुई थी दृढ़ पाद-ग्राहिणी,
तुरंग सज्जीकृत सामने हुआ ॥ २६ ॥

समक्ष देखा निज नाथ को यदा
प्रसन्न हो कंथक हींसने लगा,

परन्तु सोते जन के न कान मे,
महान हेषा-रव निष्ट हो सका ॥ २७ ॥

सहर्ष नेत्राम्बुज से पुन. पुनः
विलोक के कथक को समक्ष मे,
सु-पृष्ट पै दी थपकी तुरंग के
सम्हालते बाल कहा विमुग्ध हो—॥ २८ ॥

"अहो ! अहो ! कन्थक, धैर्य छोड़ दो,
बने जहाँ लौं अविराम ले चलो,
प्रगाढ़ इच्छा मम है कि शीघ्र ही
करूँ समुद्धार समस्त विश्व का ॥ २९ ॥

अतः करो साहस ले चलो मुझे,
रुको न जो भी पथ मे दवाग्नि हो,
निखात से, प्रस्तर से प्रपूर्ण जो,
मिले कहीं मार्ग, न पाँव मन्द हो ॥ ३० ॥

चलो मनोवेग - समान ही सखे,
उडो अभी सत्वर वैनतेय - से ।
बढ़े चलो विद्युत के प्रवेग से,
प्रवाह पीछे पड़ जाय वायु का" ॥ ३१ ॥

टिप्पणियाँ

कबीर

साखी—१ दीदार—भेट । ३ तत्त—तत्व । ६ सोवन—सुवर्ण । ८ बीछड़िया—वियोग होने पर । ६ काठै—किनारा, तट । १० कुण्डलि—नाभिचक्र— । हउ—हौं, हम । १६ कुटकी—बुसदा, चूर्ण । अँवराउ—अमराई, बाग । साकत—शाक्त, शक्ति की उपासना करने वाले । २० मैमंता—वृत्त बना कर, घेर कर । २५ समुँद्र—समुद्र । अधमाझ—अर्धमार्ग में ।

रहस्यवाद—१ थैं—से । मन्दिर माँहि—शरीर के भीतर । सूती—सोई । भरतार—भर्तार, पति । पचतत—पच तत्व । पुरिष—पुरुष । ३ पिछार—खेदा । ५ पारधि—शिकारी । ६ समद—समुद्र । दर—द्वार पर । ७ रैनाँ—रेणु, धूल । मेर—मेरु । मुगधा—मूर्ख, मोह के वश में भ्रान्त ।

६—कासी काठे घर करै—इस दोहे मे कबीर ने हिन्दुओं के उस विश्वास पर व्यग किया है जिसके अनुसार काशी मे मरना मुक्तिदायक माना गया है । 'काश्याम् मरणान् मुक्तिः' हिन्दू जाति का यह विश्वास कबीर के लिये रूढ़ि हो गया है और इस रूढि को तोड़ कर विशुद्ध भक्ति का प्रतिपादन वे कर रहे हैं । भारतीय विचारकों ने भी इस बात को कबीर से अधिक संयम और सहानुभूति के शब्दों मे बार-बार कहा है । महाभारत के शान्ति पर्व में पितामह भीष्म ने इसी बात को कबीर से कही अधिक विवेक के साथ इस प्रकार कहा है—

> आत्मानदी सयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटो दयोर्मिः ।
> तत्राऽभिषेकम् कुरु पाडुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥

२४—कदली, सीप, भवंगमुख—स्वाति नक्षत्र का एक ही जल स्थान भेद के कारण तीन विभिन्न गुणवाली वस्तुओं का कारण बनता है ।

स्फुट पद—मुनि वशिष्ट · ·। वशिष्ठ ज्योतिर्विद, त्रिकालज्ञ पण्डित थे। उन्होंने भली भाँति विचार कर राम-सीता के विवाह की लग्न ठीक की थी, किन्तु होनी वे भी न रोक सके और राम को बन जाना पड़ा। दसरथ की मृत्यु हुई। सीता का हरण हुआ। राजा हरिश्चन्द्र ने अपना सारा राज्य विश्वामित्र को दान कर दिया और उस दान की दक्षिणा के लिये उन्हें अपनी रानी के साथ बिकना पड़ा, जिसमें वे स्वय तो डोम के हाथ बिके।

बलि—महारानी दैत्यराज। विष्णु ने वामन अवतार धारण कर साढे तीन पग धरती का दान माँग कर बाद में विराट रूप से तीन पग में तीन लोक और आधे पग में बलि की पीठ नापकर बलि को पाताल भेज दिया।

नृग—कहा जाता है कि राजा नृग नित्य अनेक गायों का दान किया करते थे। किसी दिन पहले दिन की सकल्प की हुई एक गाय उनकी गायों में आकर मिल गई और दूसरे दिन के दान मे वह दूसरे ब्राह्मण को दे दी गई। दोनों ब्राह्मणो में उस गाय के लिए झगड़ा हुआ और निर्णय के लिये वे जब दोनों राजा के पास पहुँचे तो राजा असमजस के कारण तुरन्त कोई निर्णय न दे सके और उनकी गर्दन हिल गई। जिस पर रुष्ट होकर पहले ब्राह्मण ने उन्हें गिरगिट होने का शाप दे दिया। गिरगिट की गर्दन बहुत हिला करती है। गिरगिट होकर नृग अनेक वर्ष तक अन्धकूप में पड़े रहे और श्रीकृष्ण के दर्शन से उनका उद्धार हुआ।

आपु सारथी—स्वय श्रीकृष्ण पाण्डवों के सारथी थे किन्तु अभिमन्यु को मृत्यु से न बचा सके और पाण्डवों को विपत्ति मे पड़ना पड़ा।

राहुकेतु—समुद्र मन्थन के बाद समुद्र से जो चौदह रत्न निकले उनमें वारुणी और अमृत भी निकले। दानव अपनी आसुरी वृत्ति के अनुसार मदिरा, (वारुणी) पीने लगे और देवता अमृत। एक दानव दैत्यों की मण्डली से निकलकर देवताओं की मण्डली में बैठ गया और ज्यों ही वह अमृत पीने लगा चन्द्रमा और सूर्य के कारण उसका भेद खुल गया और तलवार से उसका सिर तुरन्त काट दिया गया किन्तु अमृत उसके कण्ठ से नीचे जा चुका था इसलिए वह दो खण्डों मे अमर हो गया। उसका सिर तो राहु कहा जाता है और धड़ केतु।

सूरदास

विनय—अनत—अन्यत्र, दूसरी जगह । ३ स्यन्दन—रथ । कपिध्वज—अर्जुन का रथ जिसकी ध्वजा पर विश्व भार लेकर स्वयं हनुमान रहते थे । इती—इतनी । ५ बानि—बाना, रूप । अगम-अगोचर—इन्द्रियों के अनुभव से परे । ६ जुगति—युक्ति । निरालम्ब—आधारहीन । चकृत—विस्मय में । ७ द्यौस—दिन । लीको—लकीर—रेख । ८ सिन्धुसुता—लक्ष्मी, ऋषि पत्नी—अहिल्या । भरुही—पक्षी विशेष । भारथ—महाभारत का युद्ध । होनी—होनहार, नियति । १० जठर—उदर । अक भरे—गोद मे लेती है । मलय वृक्ष—चन्दन का पेड़ । सुभाय—स्वाभाविक । ब्याल—सर्प । ११ लाजै जननी—माता को धिक्कार है । १२ सेवर—सेमर, जिसके सुन्दर फूल देख कर तोता उसमे चोंच मारता है लेकिन वहाँ रस नही ।

बालगो़पाल—१७ तीर, किनारे, निकट । कचुकि—कुर्त्ता, मिरजई या पुरुष वर्ग का उपधान । पाटम्बर—रेशमी कपडे । हार—हीरा । पुण्य शरीर—सुकृति । १८ निबही—निर्वाह होना । इन्द्रनील—मनि—नीलम । दिग—दतनि—दिग्गज, पूर्व आदि आठों दिशाओं मे पृथ्वी को धारण करने के लिये स्थित ऐरावत आदि कुञ्जर । यथाः—

ऐरावतः पुण्डरीको, वामनः कुमुदोञ्जनः,
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥

२१ बिज्जु—बिजली । २२ नवनीत—नैनू, मक्खन । रेनु—रेणु, धूल । गोरोचन—पील रग का एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य जो गौ के मस्तक से निकलता है । वज्र—हीरे का पदिक । केहरि नख—नख—बघनहाँ २३ अरैं—हठ करते हैं । २ दधिसुति—चन्द्रमा, कमल । दधिपर कीर—यहाँ नाक का अर्थ है जिसकी उपमा कीर से दी जाती है । कीर पर पकज—नाक के ऊपर दोनों आँखे । २५ इती—इतना । २६ चलाई—चवाई, इधर उधर चुगली करनेवाला । धूत—धूर्त, ठग । २० समर—स्मर, कामदेव । बिबि—दो । श्रुतिमण्डल—श्रवण, कान । मकर—मछली । विद्रुम—मूँगा । दारिमकन—अनार के बीज (दाँत) सारग बाहन—हाथ । २८ सैन—कटाक्ष,

देखना । कुसेसय—कुशेशय, कमल की जाति विशेष । मुद्रित—बन्द । सिति—शिति, नीला । लोल—चचल । २६ सुलेष—अच्छी तरह लिखी हुई । अंतर—भीतर । सभुभूषन—चन्द्रमा । मलयज—चन्दन । केकि—कच—मोर पंख । ३१ फनीन्द्र—शेषनाग । तम—अज्ञान । नाखत—नष्ट होता है । ३२ आरज पथ—आर्य पथ, कुलीनों की प्रथा । पदरिपु—काटा । उबरी—निकल पाई । सिवसुत-वाहन—मोर । सारग—पपीहा । पतगसुता—जमुना । उड़पति—चन्द्रमा । विम्ब—विम्बा फल, ओठ । ३४ मैमत—मदमत्त, बेसुध । ३५—झुरे—सूखे । ३६—विपरीत—उलटा । ३७ राजस—राजसूय यज्ञ । परधान—प्रधान । इस पद्य मे वशी का रण विजयी मानकर राजसूय यज्ञ का रूपक है । ३८ आधारि—टेक लगाने की लकड़ी । इतै बाँध को बाँधे—इतने गुणों का आरोप कौन करे । अवराधै—आराधना करे । ४० भँवरे—भ्रमण कारी । माट—मटका । तागुन—इसी कारण । ४२ सरक—नशा । अपरस—अपना भेद । ४३ गाँसी—गाँस की तरह चुभने वाली । अछत—रहते हुए । ४४ भूत—छाया मात्र । ४५ पटपद—भौरा । ४६ अपाने—अपने । निदाने—अन्त की । ४६ मादिर अरध—एक पक्ष, पन्द्रह दिन । बादिगये—कह गये । हरि अहार—(सिंह का भोजन, मास, महीना । ससिरिपु—दिन । भानुरिपु—रात्रि । हररिपु—काम । मघ पचक—मघा नक्षत्र से पाचवाँ नक्षत्र (चीत) अर्थात् चित्त । नखत—२७ । बेद—४ । ग्रह—६ अर्थात् ४० के आधे बीस, विष । ५० हेम सुता-पति को रिपु—कामदेव । कचनपुर पति-भ्राता—कुम्भकर्ण । तासु प्रिया—नींद । अम्बुखंदन—पपीहा । सम्भुसुतबाहन—मोर ।

३—जैसे उड़ि जहाज को पक्षी··· ···'या जैसे काग जहाज को'—भक्त कवियों मे जहाज के पक्षी या काग के उदाहरण की पद्धति चली आई है। भगवान को छोड़कर उनका दूसरा कोई सहारा नहीं, जैसे जहाज का पक्षी अपने स्वभाव के वश मे उड़ता है लेकिन सब ओर जल ही जल देखकर घबड़ा उठता है और फिर घूम कर उसी जहाज पर आ बैठता है ।

कामधेनु—समुद्र से प्राप्त चौदह रत्नों मे यह भी है जैसेः—

श्रीमणि, रम्भा, वारुणी, अमिय, शंख, गजराज ।
कल्पद्रुम, शशि, धेनु, धनु, धन्वन्तरि, विष, बाजि ॥

कामधेनु कल्पद्रुम सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करते हैं और देवराज इन्द्र के नन्दनवन मे इनका निवास है।

३—तौ लाजौ गंगा जननी को······शान्तनु ने गगा की तपस्या की थी, जिस पर प्रसन्न होकर गगा ने वर माँगने को कहा। शान्तनु ने उन्हें पत्नी रूप मे प्राप्त करने की अपनी कामना प्रकट की। गगा ने स्वीकार तो किया किन्तु इस शर्त पर कि उनसे उत्पन्न सन्तान मर्त्यलोक मे न रहने पावेगी और पैदा होते ही गगा मे फेक दी जावेगी। सात पुत्रों को तो शान्तनु ने गंगा में फेक दिया। आठवे देवव्रत हुए जिनके रूप और तेज़ पर मुग्ध होकर शान्तनु इन्हे न फेक सके।

कपिध्वज—हिमालय में घूमते हुए भीम को वृद्ध हनुमान मिले जिनकी पूँछ रास्ते पर ही फैली पड़ी थी। पहले तो भीम को क्रोध हुआ और उन्होंने हनुमान को डराना चाहा, किन्तु बाद को हनुमान के कहने पर जब भीम ने उस पूँछ को उठाकर रास्ते से अलग करना चाहा तो वह पूँछ उनके हिलाने से हिल भी न सकी। भय और विस्मय के आवेश मे भीम ने हनुमान से परिचय की प्रार्थना की। उनका परिचय मिल जाने पर भीम ने कुरुओं के विरुद्ध युद्ध मे उनसे सहायता चाही, किन्तु हनुमान ने यह कह कर कि उन्होंने भगवान रामचन्द्र के साथ रह कर रावण से युद्ध किया था, साधारण मनुष्य के युद्ध मे भाग लेना उनकी मर्यादा के अनुकूल नही, अर्जुन के रथ की ध्वजा पर बैठना स्वीकार कर लिया और अर्जुन का रथ कपिध्वज कहा जाने लगा।

४—चक्र सुदर्शन—विष्णु का शस्त्र जो सृष्टि सहार कर विष्णु के पास लौट आता है।

७—अजामिल—श्वपच। जिसने नारद के कहने से अपने पुत्र का नाम नारायण रक्खा था। मृत्यु के समय यमदूतों से भयभीत होकर उसने अपने पुत्र नारायण को पुकारा किन्तु उसकी आर्ति और नाम साम्य के कारण भगवान ने यमदूतों से इसकी रक्षा की।

गणिका—एक वेश्या जो अपने तोते को राम-राम पढ़ाया करती थी। और अपने इसी कर्म से मुक्त हो गई।

८—पावन सुरसरि—बलि का दान लेकर पाताल भेजने के समय वामन ने विराट रूप धारण किया था। ब्रह्मा ने विराट का चरणोदक अपने कमण्डलु मे रक्खा और इसी जल से गगा की उत्पत्ति हुई।

६—कबीर मे कथाये दी गई है।

१२—फूल सेमर को—सेमल का फूल लाल लाल सुन्दर रसीले फल-सा लगता है। तोता उसके रस के लिए उसमे चोंच मारता है किन्तु वहॉ रस तो रहता नही नीरस रुई मे उसकी चोच उलझ जाती है।

१४—नारदादि सुकादि—नारद और शुकदेव आदि भक्त ऋषि जिन्होंने भगवद्भक्ति को ही ज्ञान की सारी पद्धतियों के ऊपर माना था।

१५—जाके नारदादि ब्रह्मादिक—क्षीर सागर मे शेषशायी विष्णु की नाभि से जो कमल निकला उसी से सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का जन्म हुआ।

१८—यशुमति उदर अगाध उदधि—इन्द्र, नील, मनि। नीलम जो यशोदा के उदर समुद्र से निकला। समुद्र से मणि निकला था और समुद्र को रत्नाकर कहते भी हैं।

२३—बासुकि ··मन्दर डरत · सिन्धु कॉपत—समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल की मथानी और वासुकि की रस्सी बनाई गई थी। कृष्ण के मथानी पकड़ते ही सिन्धु-मन्थन के साथ जिनका सम्बन्ध था सभी भयभीत हो गये कि कही वह स्थिति फिर न पैदा हो।

२५—प्रात परम सुचिकाल—प्रात:काल, ब्रह्ममुहूर्त में नीद का टूट जाना शरीर और बुद्धि दोनों ही के लिए लाभकर होता है। भारतीय परम्परा मे ब्रह्ममुहूर्त मे उठकर नित्यकर्म से निवृत होकर कर्म मे लग जाने की बड़ी महिमा है। मन्त्र की सिद्धि का भी समय वही हे। इस तथ्य की ओर कवि का सकेत है।

२६—भृगुलता······ भृगु मुनि ने भगवान की छाती पर लात मारी थी। उसका चिह्न उनकी छाती पर बन गया जो कभी नही मिटा।

३२—पतग सुता—सूर्य की कन्या यमुना और पुत्र यम हैं।

५०—हेम सुता-पति को रिपु—कामदेव। सती ने दक्ष प्रजापति के यज्ञकुण्ड मे अपना शरीर जलाकर हिमालय के यहॉ पार्वती रूप मे जन्म

लिया। पार्वती ने शंकर को प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या की। उधर तारकासुर से सारा देवलोक त्रस्त हो उठा था। देवताओं ने इस विचार से कि तारकासुर का वध केवल शंकर के पुत्र से ही सम्भव है कामदेव को शंकर की समाधि तोड़ने के लिए भेजा। शंकर की समाधि तो टूट गई किन्तु उनके तीसरे नेत्र की अग्नि से जलकर कामदेव भस्म हो गया।

खगपति चाढ़—विष्णु की सवारी गरुड़ है।

जायसी

पद्मावति का सौन्दर्य—१ झार—झारना। रैन—रात्रि। पसारे—फैले हुए। भुअंग—भुजंग, सर्प। लुबुधे—लुब्ध होते हैं। बीजु—बिजली। झाँप—छिपना। २ राता—लाल। बिखरि—फैलना। सूरू—सूर्य। ३ कचपची—आकाश में कुछ छोटे-छोटे तारे एक दूसरे से सटे दीख पड़ते हैं, इन्हें कचपची कहते हैं। दिष्ट—दृष्टि।

गोरायुद्ध—१ रन—साका—रण का साका, संग्राम में मरने के लिए जाना। समुद—समुद्र। २ ओनई—घिर आई। मैमत—मदमत्त। तुरग—घोड़े। ४ अधर—धरती पर। रुहिर—रुधिर, रक्त। भारत—युद्ध। निबरे—मिट गये, नष्ट हो गये। ५ चाँचरि—होली में गाया जाने वाला गीत, होली की धमार।

मिलन—१ नाहा—नाथ। गरुई—भारी, सम्मानपूर्ण। नाहित—नहीं तो। २ काछ काछि—काछा कसकर, कमर बाँध कर। छात—छत्र। धारा—धरा, पृथ्वी। सुखपाट—पलग। दिनारे—अलग होकर, बिछुड़ कर।

पद्मावती का सती होना—१ जूड़—शीतल। गोहन—संग रहने वाला साथी जो कभी अलग न हो।

१—भुअंगा···मलयागिरि अगा—किंवदन्ती के अनुसार चन्दन के वृक्ष पर सर्प लिपटे रहते हैं और चन्दन के पेड़ मलयागिरि पर ही होते हैं।

२—दुइज लिलार—शंकर के ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा रहता है इसी पौराणिक प्रसंग की ओर कवि का संकेत है।

गोरा का युद्ध—१—धौलगिरि—हिमालय का सबसे ऊँचा शृङ्ग, जिसके नीचे बादल घिरे रहते हैं। जो अडिग है।

सहसोसीस सेस—शेष नाग अपने सहस्र फणों से पृथ्वी को धारण किये हैं।

सहसौनेन इन्द्र—अहिल्या के साथ छल करने के कारण गौतम के शाप से इन्द्र की सहस्र आँखे हो गई थी।

वासुकि—शेषनाग—कहो शेष नाग के सिर पर बाधा न बैठ जाय।

मिलन—हनुवत होई भुजा पईठे। कपिध्वज की अन्तर्कथा सूर में दी जा चुकी है।

सती होना—शिवलोक—स्वर्ग। सतियों का विश्वास था कि पति के शव के साथ भस्म होने पर वे चिर सुहागिनि रहती हैं और स्वर्ग मे पति के साथ उन्हे जगह मिलती है।

जोरे उत्रा सो अथवा—जो पैदा होता है अवश्य मरता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा :—

धरा मो प्रमान यही तुलसी
जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।

तुलसी

कवि-कर्म—१ बतकही—बातचीत, चर्चा। भनिति—कही हुई, कथन, वाणी। खोरी—दोष। कुतरकी—कुतर्कपूर्ण। सुमति—बुद्धिशील, मनस्वी। धूमउ—धूम भी। करुआई—कड़वापन। अगरु—अगर, एक प्रकार की सुगन्धित लकड़ी। भव-शंकर। दारु—काठ, काष्ठ। मलय—चन्दन सुगन्ध। ४—सुरभि—गाय। ५ अहि—सर्प। अन्हवाएँ—स्नान कराना। कलिमल—कलियुग के दोष। प्राकृत—प्राकृत भाषा। जुगति—युक्ति, उपाय। पोहियहि—गूँथेंगे।

निषाद निष्ठा—१ भाउ—भाव, विचार। जोपै—यदि कही। जुझारा—युद्धप्रिय, वीर। आचरज—आश्चर्य, विस्मय। ग्याति—जाति, कुल के लोग। हथवाँसहु—नाव खेने की लग्गी। घाटा रोहु—घाट बन्द कर देना।

२ सँजोइल—एकत्र होकर। मीचू—मीच, मृत्यु। धवलिहऊँ—श्वेत कर दूँगा, प्रकाशित कर दूँगा। बिगद विषाद—खेद रहित, प्रसन्न चित्त। ३ रजाई—राजाज्ञा। कदराइ—कायर होना, किनारा करना, अलग हो जाना। अगरी—कमर से ऊपर पहनने का वस्त्र, मिरजई। छिति—पृथ्वी। राउतहि—राउत को, छोटी जाति के सरदार को राउत कहते हैं जो रावल या रावत का ठेठ रूप हो गया है। ४ सगुनिअन्ह—सगुन या शकुन निकालने वाले। खेत—रणक्षेत्र। रारी—झगड़ा, युद्ध। सहसा—शीघ्रता, जल्दी। जूझे—युद्ध करना। ५ सुभाये—स्वाभाविक। दुरई—दूर होती है, मिटती है। पाठीन—एक प्रकार की मछली, रोहू, जोहारु—प्रणाम करना।

लक्ष्मण का रोष—१ सचकित—चकित होते हुए, आश्चर्य में पड़कर। ३ सियरमनू—सीता-रमण, श्रीरामचन्द्र। थिति—स्थिरता, शान्ति। खँभारू—हलचल, अशान्ति। ४ कलसि—कल्पना कर, सोचकर। कुचाली—कुचाल, बुराई, छल। जान—यान, सवारी। ५ रच—थोड़ी भी। राखब—रक्खूँगा। निदरे—निरादर किया, हीन समझा। उपचार—प्रतिशोध—बदला। ५ लेइ-लपेटि—लपेट लेता है, वश में कर लेता है। भमरि—भयभीत होकर। ६ बिधि प्रपच—ब्रह्मा की रहस्यपूर्ण सृष्टि, जो क्षण-क्षण में बदलती रहती है। दीसा—देखी। काँजी—काई। ८ तरनिहि—सूर्य को। मकु—जो यदि। छोनी—छोणी, पृथ्वी। खीरु—क्षीर, दूध। ६ कविकुल अगम—जहाँ तक कवियों की गति न हो, कवि की वाणी में जो बात न आ सके। नियोग—नियुक्ति, आज्ञा। करतब, कर्म, किया हुआ। कुतरक, कुतर्क, नाना प्रकार का सन्देह। मते—कारण।

चित्रकूट में भरत—१ जोटा—जोड़ा, भरत और शत्रुघ्न। ओटा—ओट में, आड़ में। दावा—दाह, परिताप। परमारथु—परमार्थ, मुक्ति। तून—तूण, तरकस। जरति—जलन, दुःख। २ लकुट—लाठी। गुदरत—दूर करना, अवहेलना करना। अपान—अपनत्व, निर्निमेष। ३ अहिमि—अहंकार। धकधकी—हृदय की धड़कन। सुरगुरु—बृहस्पति। भाये—भाव, प्रेम। ४ ललकि—ललककर, गद्गद् होकर। अभिमत—मनवाञ्छित, मन चाहा। परसि—स्पर्श कर, रखकर। निसोच—सोच रहित, सन्देह रहित।

अपडर—ग्लानि भय। छूँछा—खाली, रिक्त। सेनप—सेनापति। ५ रिपु दवनू—रिपुदमन, शत्रुघ्न। लुठत—लोटते हुए। ६ आरत—आर्त, दुखी। भेई—भिगोकर, स्निग्ध कर। प्रबोधु—प्रबोध सन्तोष। ८ लही—पाया, प्राप्त किया। सोहाग सिन्दूर—सौभाग्य।

भरतभक्ति—१ पद-पीठ—खड़ाऊँ। साँथरी—चटाई। सिहाई—ललचता है। धनद—कुबेर। रागा—अनुराग, लोभ। चंचरीक—भौंरा। निघटत—घट जाता है, सूख जाता है। बिरति—विरक्ति। गमु—पहुँच, शक्ति। २ समन—नाश करने वाला।

बन पथ पर—१ बिथकी—दुखी हुईं। २ मैन—कामदेव। पयादेहि—पैदल। ३ अयानी—मूर्ख। पवि—बज्र। किमिकै—किसलिए। ४ कलेवर—शरीर मनोज—कामदेव। सरसीरुह—कमल। सतभायहुँ—स्वाभाविक, सात्विक भाव से। ५ सरासन—धनुष। ६—पसेउ—प्रस्वेद, पसीना।

लंका दहन—१ निबुक—निकलकर। बालधी—पूँछ। कराल—भयानक। रसना—जीभ। सुरेस-चाप—इन्द्रधनुष। कृसानु-सारि—अग्नि की धार। ५ जुग-षट-भानु—द्वादश सूर्य। प्रलय कृसानु—प्रलय के समय की अग्नि। सेषमुख—शेसनाग का मुख। डाढै—जला देना। सर्पी—घृत। ७ विराज—विराट पुरुष, ब्रह्माण्ड। राँक—रंक, दरिद्र। बिसोक—शोक रहित। मनाक—चैन, स्थिरता। रसाइनी—रसायन के जानने वाले, रसौषधि निर्माण करने वाले। समीर सुत—हनुमान। जातरूप—सोना। मृगाङ्क—सोने का भस्म, प्रसिद्ध रसोषधि।

विनय—१ घरवात—गृहस्थी का ढग। नाक—स्वर्ग। नकबानी—हैरान। २ मुनिचय चकार—मुनिगण रूपी चकोर। नर-नाग विबुध—मनुष्य, नाग और देवता। जन्हु बालिका—जन्हु की लड़की—गगा। थालिका—आलबाल, थाला। ३ गचकाँच—शीशे की गच, फ़र्श। सेन—स्येन, बाज़। छाँत—हानि। ५ शून्य भीति पर चित्र—आधारहीन, माया की। रंग बिनु—बिना रग के, केवल सकल्प से। तनु बिनु लिखा चितेरे—निराकार अव्यक्त सृष्टि कर्त्ता।

कवि-क्रम—२—पुरारी—त्रिपुरारी। शकर का एक नाम है। माली, सुमाली और अंसुमाला, नामक इन तीन दैत्यों के तीन नगरों को जो क्रमशः लौहपुर, रजतपुर और स्वर्णपुर थे, शकर ने एक ही बाण से जला कर भस्म कर दिया था इसलिये उनका नाम त्रिपुरारि पड़ा।

भव अग भूति मसान—भूतनाथ शकर स्मशान की भस्म अपने अग पर लपेटते हैं।

५—अहि-गिरि-गज मणि माणिक और मोती क्रमशः सर्प, पर्वत और हाथी से निकलते हैं किन्तु इनकी शोभा अपने मूल स्थान पर नहीं होती।

बिधि भवन बिहाई—ब्रह्मा घर, ब्रह्मलोक छोड़ कर। सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री हैं। इनका आवाहन हरि गुन उद्देश्य के लिए होना चाहिए, गोस्वामीजी का यही सकेत है।

निषाद निष्ठा—जस धवलिहऊँ—यश से उज्ज्वल करूँगा। यश का रंग साहित्य शास्त्र मे श्वेत माना गया है जैसे :—

यथा यथा भोज यशो विवर्धते सिताम् त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम्।
तथा तथा मे हृदयोविदूयते प्रियालकाजीधवलत्वशङ्कया॥

लक्ष्मण रोष—नहुष—नहुष ने सौ अश्वमेध यज्ञ कर इन्द्रत्व प्राप्त किया। सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला शतक्रतु कहा जाता था और इन्द्र पद का अधिकारी हो जाया करता था। इसीलिए अश्वमेध यज्ञों में इन्द्र बार-बार बाधक होता देखा गया है। जैसे इन्द्र सगर के यज्ञ अश्व को कपिल के आश्रम मे बाँध कर सगर के साठ हज़ार पुत्रों को कपिल की क्रोधाग्नि में भस्म करने का कारण हुआ। नहुष ने सारी बाधाओं का अतिक्रमण कर सौ यज्ञ पूर्ण किये, किन्तु इन्द्र पद मिल जाने पर वह अहकारी और विवेकहीन हो बैठा। ऋषियों के द्वारा वह अपना रथ खिचवाया करता था। उसका अविवेक यहाँ तक बढ़ा कि एक बार रथ खीचते हुए ऋषि पर उसने चाबुक चलाकर सर्पः सर्पः तेज चलने को कहा जिस पर उसे सर्प होने के लिए ऋषि शाप हुआ।

वेणु—प्राचीन काल का अत्याचारी राजा जिसका बध प्रजा ने किया।

त्रिशंकु—त्रिशंकु ने सदेह स्वर्ग जाने के निमित्त वशिष्ठ से यज्ञ कराने

को कहा, किन्तु वशिष्ठ ने यह कह कर कि सशरीर स्वर्ग जाने का विधान नहीं है और न तो किसी को ऐसी कामना ही करनी चाहिये, यज्ञ कराना अस्वीकार कर दिया। विश्वामित्र वशिष्ठ के विरोधी थे। वशिष्ठ को नीचा दिखाने के लिए विश्वामित्र ने त्रिशकु का यज्ञ कराना आरम्भ किया और यज्ञ और मन्त्र बल से उन्हे स्वर्ग के द्वार तक चढा भी दिया, किन्तु देवताओं ने त्रिशकु को नीचे ढकेल दिया जिससे उनका सिर नीचे होगया और पैर ऊपर और उनके लार से कर्मनासा नदी बह निकली। कहा जाता है कि कर्मनासा मे स्नान करने से पुण्य क्षय होता है।

घटयोनी—कुम्भज। कुम्भज ऋषि का जन्म घड़े से हुआ था इसलिए इनका नाम कुम्भज पड़ा। उन्होंने आचमन मे ही समुद्र सोख लिया था।

भरतहस—रामचरित मानस के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ मे इस शब्द का प्रयोग तुलसीदासजी ने किया है। हस की प्रसिद्धि उसके विवेक के लिए है। नीर-क्षीर विवेक हस का गुण माना जाता है।

चित्रकूट में भरत—रतिकामा—कामदेव की स्त्री का नाम रति है। कहीं-कहीं कामदेव की दो स्त्रियाँ मानी गई हैं रति और प्रीति। 'कामस्यद्वे भार्यै रतिश्च प्रीतिश्च'।

वन पथ पर ३—पवि—वज्र। वृत्रासुर के युद्ध मे देव सेना जब हार गई और किसी देवशस्त्र का प्रभाव बलीवृत्र पर न पड़ा तब इन्द्र ने राजर्षि दधीचि से उनकी हड्डी माँग कर वज्र का निर्माण कराया। इसी से वृत्रासुर का बध हुआ। यह शस्त्र अमोघ माना जाता है। पर्वतों को चूर-चूर कर डालने की शक्ति इस वज्र मे मानी गई है।

७—रतिनायक है। कामदेव को पुष्पशर कहते हैं। कामदेव के बाण पाँच फूलों के बनते हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्यों के मत विभिन्न हैं।

अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चवाणस्य सायका:॥
उन्मादनस्तापनश्च शोषणःस्तम्भनस्तथा। सम्मोहनश्च कामस्यपञ्चवाणा प्रकीर्तिताः॥

लंकादहन——समिध सौंज—यज्ञ की सामग्री। इस प्रसग पर कवि ने यज्ञ का रूपक बाँधा है। हनुमान लका के यज्ञ कुण्ड मे सामग्रियों की समिधा

और राक्षसों को सुपारी, जव, तिल, धान बनाकर पूँछ की सुवा से, स्वाहा का उच्चारण करते हुए कुण्ड में डाल रहे हैं।

युगषटभानु—सूर्य बाहर हैं। पौराणिक आधार के अनुसार हनुमान ११ सूर्यों को तोड़कर निगल गये और देवताओं की स्तुति पर केवल एक सूर्य को रहने दिया।

केशवदास

धनुषभङ्ग—खण्ड परशु—शकर। कोदण्ड—धनुष। अशेषधर—सारी सृष्टि के धारण करने वाले। गजदन्तमयी—हाथी दाँत की बनी हुई। देव-नस्यों—देवताओं के साथ। देवसभा—इन्द्र सभा। वंदी-सुत—चारण कुमार। सुरभि—सुगन्ध, वसन्त। यश परिमलमत्त—यश रूपी पुष्परस से मतवाला। कुण्डल परसन मिस—कुण्डल छूने के बहाने से। शम्भु-सरासन गुण—शंकर के धनुष की प्रत्यचा। करणालबित—कान तक खीच कर।

समर समुद्र समान—समर मे समुद्र की तरह अथाह और असीम चन्दन चित्र तरग—जिसके शरीर पर चन्दन के लेप से चित्र बन रहे हैं। बाहिनी—सेना। सिगरे—सारे।

गोत-गुण ग्राम—गोत्र, गुण और स्थान, पूर्ण चरिचय। धनु कर्षि है—धनुष खीचेगा। श्रौण के परिमाण—कान तक। दिग पालन की—दिक्पालों की। भुव पालन की—राजाओ की। किन मातु गई च्वै—गभपात क्यों नही हो गया।

आये ह्वै वीर चले बनिता ह्वै—वीर बन कर तो आये थे, किन्तु धनुष इनके हिलाये भी नही हिला, इस प्रकार गौरव और पौरुपहीन होकर जैसे स्त्री बनकर चले गये।

परदार प्रिय—श्लेष—पृथ्वी राजा की स्त्री मानी जाती है, दूसरे की भूमि का प्रेमी, चक्रवर्ती। मन्दिर माँझ—मन्दिर में।

पर्वतारि पर्वत प्रभा—वज्र और पर्वत की शक्ति। पैज करै—प्रण करने के लिए, प्रण के कारण। लीलयैव—खिलवाड़ मे ही। तिच्छ-कटाच्छ नराच—तीक्ष्ण कटाक्ष का वाण। नव खण्ड—नव खण्डवाली पृथ्वी। चालि अचला

अचल—पृथ्वी और पर्वत को हिला कर। घालि दिगपाल बन—दिग्पालों के बल को हीन कर।

मघवा धनु—इन्द्र धनुष। सौ—शपथ। तैसिथै—वैसो ही। जलजात—कमल। जातवेद—अग्नि। ओप—आभा, प्रकाश। जातरूप-सोना।

पृथु—पुराण प्रसिद्ध राजा पृथु जो महापराक्रमो होने के साथ हा साथ गो ब्राह्मण रक्षक थे।

कालदण्ड—यमराज का शस्त्र, जिसके वश में सारो सृष्टि है।

चन्द्रचूड़—शकर जिनके ललाट पर बाल चन्द्र का निवास है। सीता स्वयवर का धनुष शकर का धनुष था।

पर्वतारि—वज्र, जिससे पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं।

भृगुनन्द बरिबंड—परशुराम, जिन्होंने इक्कास बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीनकर स्यमन्त पंचक तोर्थ मे रक्त से सात कुण्ड भर दिये थे। सहस्त्रबाहु की हज़ार बाहो को अपने फरसे से काटकर इन्होंने प्रतिशोध लिया था।

पन्नग प्रचण्ड पति ·· 'शेषनाग या वासुकी की प्रत्यञ्चा।

दमयन्ती—श्रीहर्ष के नैषध चरित्र की नायिका, जिसके सदौर्य का वर्णन कवि ने ललित शब्दों मे किया है। नल दमयन्ती का पौराणिक आख्यान प्रसिद्ध है।

इन्दुमती—महाकवि कालिदास ने 'रघुवश' मे इन्दुमती स्वयवर का वर्णन किया है। अज का वरण इन्दुमतो ने स्वयवर सभा में किया था। इन्दुमति के रूप-वर्णन में कलिदास की कला का बड़ा ही मनोरम रूप मिला है।

सेनापति

१ बद—चारण, भाट। बिरद—यशगान। पुहुपन—पुष्पों की, फूलों की। २ सेत—श्वेत। अलि—भौंरा। घोष—बोलना, पाठ करना। माधव—वसन्त। काम चक्कवे—चक्रवर्ती कामदेव। बिक्रम-कवित्त—वीरता के गान, छन्द। ३ टेसू—पलाश। मलय पवन—सुगन्धित वायु, वसन्त की वायु। ४ नजिकाने—समीप आ गया, निकट आ गया। सुधारत—सुधारे जाते हैं। खसखाने-तल ताख तहखाने—धरती के नीचे बनाई हुई जगह जिसमें खस

की टट्टियाँ लगी हुई हैं। बराइबे—बराने के लिए, बचने के लिए। ५ बृष कौं तरनि—वर्ष भर मे सूर्य जब बृष नक्षत्र पर आता है। तब वह सब से अधिक गर्मी का कारण होता है। बृष नक्षत्र के सूर्य का तेज असह्य होता है। ज्वालन के जाल—लपटों की जाल। तचित—जलने लगती है। सीरी—ठडी। बिरमत हैं—विराम करते हैं, विश्राम करते हैं। नैकु—थोड़ी भी। धमका—उमस, दम घुटने वाली गर्मी। पौनौ—पवन भी। कौनौं—किसी। ६ पवन—तपन, आँच। भीषम—भीषण, भयानक। ७ बगमाल—बकमाल, बगलों का समूह। मोहिनी—मोहिनी, प्यारी। बरन-बरन—रगबिरग के। गरूर—गभीर। ८ दिसान—दिसाओं में। घुमरत—घूमता हुआ शब्द करता है। ताइ—तोय, पानी। निसा के भरम करि—रात्रि के धोखे मे। मेरे जानि मेरी समझ में। ६ जोन्ह—चाँदनी। कास—एक प्रकार का सरपत। दुरद—द्विरद, हाथी। १० सियराति—ठडक देती है। जस—यश। यश का रग श्वेत माना जाता है इसलिए कवि चाँदनी के साथ राम के यश की उत्प्रेक्षा कर रहा है। मानहु जगत छीर सागर अगम है। मानों ससार अगम क्षीर सागर हो गया है। क्षीरसागर का रग श्वेत है और यहाँ चाँदनी भी श्वेत है। ११ सियराइ कै—ठडा होकर। १४ सबिताऊ—सविता भी, सूर्य भी। झाई—छाया। बासर—दिन। १५ जौलों कोक कोकी—साहित्य प्रसिद्ध के अनुसार चकवा-चकई का रात को वियोग होता है, रात को दोनों एक साथ नहीं रह सकते। हेमन्त का दिन इतना छोटा होता है कि जब तक दोनों एक दूसरे के समीप पहुँचे कि तब तक सन्ध्या हो जाती है। और बीच रास्ते से ही उन्हें लौट जाना पड़ता है। तताई—उष्णता।

बिहारी

१—भव-बाधा—ससार की यातनाये। झाई—छाया, परछाई। स्यामु—श्रीकृष्णजी। हरित-दुति—हरे रग के, प्रसन्न। २—चन्द्रकनि—किरणों। ससि-सेखर—चन्द्रशेखर, शकर। ४—दुराज—दो या दुष्ट राजा। दम्द—द्वन्द, झगड़ा, दुःख। ५—उहि—उसी। अजौं—अब भी। ६—बहार—शोभा, वसन्त। अपत—बिना पत्ते के ६—एकत—एकत्र, एक ही स्थान पर। ६—हरि-राधिका तन-दुति—कृष्ण का रंग गहरा नीला, राधिका का

रंग चम्पक के फूल की तरह पीत—गौर। नीले और पीले रग के मेल में लालिमा की आभा निकला करती है। श्रीकृष्ण के शरीर का रग साहित्य में अतसी के फूल की तरह माना गया है। अतसी के फूल के बीच में कुछ लालिमा सी दिखलाई पड़ती भी है।

'अतसीकुसुमोपमेयकान्तिर्यमुनाकूलकदम्बमूलवर्ती'

११—अहेरी—शिकारी। काननचारी—श्लेष, वनवासी या कान तक लम्बे। १२ उरबसी—ऊर्वशी अप्सरा या हृदय में बास करनेवाली। १४—नन्दितकरी—आनन्दित किया। १५—सचो—सबीह, चित्र। १६—जल-थम्म-विधि—जल के स्तम्भन की कला। महाभारत के युद्ध की समाप्ति के समय सुयोधन सरोवर मे जल की स्तम्भन क्रिया के द्वारा एक दिन छिपा रहा। १८ कमनैती—धनुष चलाने की कला। १६—मुकुतनु—श्लेष, मुक्त, मोती। २० पून्योई—पूर्णिमा। आनन-ओप-उजास—मुख की शोभा का तेज। २१ उरझत—उलझता हैं, फँसता है। टूटत कुटुम—कुटुम्ब, समाज के बन्धन टूट जाते हैं। २३ सगुनौ—गुण सम्पन्न या बाती के साथ श्लेष है। सनेह—प्रेम या तेल श्लेष। २४ रनित—रणित, बजती है। भृङ्ग घटावला—भौंरे की घटी। कुञ्चरु—कुञ्जर, हाथी। इसमें कुञ्ज के समीर और हाथी का रूपक है। २५ कनक—सोना, धतूरा। २८ विकट जटे—जकड़ कर बन्द। २६ सरै—सिद्ध होता है। ३५ विरदु—यिरद, यश बढ़ाई। देखिबी देखता है।

भूषण

देवी भागवत और दुर्गा सप्तशती मे दुर्गा ने जिन राक्षसों का वध किया है उन्हीं मे कुछ नाम कवि ने यहाँ लेकर, दुर्गा की स्तुति की है।

मधुकैटभ—विष्णु के कान के मल से यह भीषण दैत्य पैदा हुआ था जिसे देखकर स्वय विष्णु शकित हो गये थे। उन्होंने योगमाया का स्मरण किया और योगमाया ने दुर्गारूप से उस राक्षस का वध किया।

महिषासुर—इस दैत्य ने इन्द्रादिक देवताओं को पराजित कर शंकर और विष्णु को भी पराजित किया। देवताओं ने भगवती दुर्गा का ध्यान किया

और देवताओं की सम्मिलित शक्ति से दुर्गा अवतरित हुई। देव-वृन्द ने अपने प्रसिद्ध शस्त्र और अन्य सामग्रियो से दुर्गा को सुसज्जित किया और घोर संग्राम में भवानी ने उसके प्रचण्ड सेनापतियों, चण्ड, मुण्ड आदि को मारकर अन्त में उसका भी बध किया।

शुम्भ-निशुम्भ— महिषासुर के मारे जाने के बहुत काल बाद इन दैत्यों का बल बढा। इन्होंने भी देवताओं को पराजित कर उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया और देवता किसी प्रकार छिपकर अपने प्राण बचाते रहे! इन दैत्यों ने घोर अधर्म का आचरण किया। अन्त मे देवताओं ने फिर भवानी की स्तुति की जिससे सन्तुष्ट होकर हिमालय के सुनहले शिखर पर सिंहवाहिनी दुर्गा अवतरित हुई। उनके रूप की प्रशसा पर मुग्ध होकर दैत्यराज निशुम्भ ने उनसे विवाह का प्रस्ताव अपने दूत के द्वारा किया जिस पर दुर्गा ने कहा—

यो मे जयति संग्रामे सो मे दर्पम् व्यपोहति।
यो मे प्रतिबल लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

निशुम्भ ने अपने विडालाक्ष आदि सेनापतियों को उन्हे जीवित पकड़ लाने का आदेश दिया, किन्तु घोर सग्राम मे वे सब दुर्गा के हाथों मरते गये। अन्त मे भीषण दैत्य रक्त बीज को, जिसके एक-एक बूंद रक्त से उसी की तरह के भीषण दैत्य पैदा होते थे, बड़े बल से भवानी ने मारा और फिर निशुम्भ और शुम्भ को मारकर देवताओं का संकट मिटाया।

प्रवाह रोक्य रेवा को—रावण अपनी स्त्रियों के साथ सेना लेकर जलविहार के लिये नर्मदा के किनारे आया। उसके आतक से समीप के जन-प्रद त्रस्त हो उठे। सहस्त्रबाहु को जब इसके समाचार मिले उसने अपनी हज़ार बाहों से नर्मदा का जल रोक दिया और पानी के उल्टे बहने से रावण का दल बह चला। जिस स्थान पर सहस्त्रबाहु ने जल रोक दिया था उसे आज भी सहस्त्रधारा कहते हैं।

देव

१—बिथुरै—फैल जाना, छितरा जाना। २ बिहसाति—बिहंसना, मुस्कराना। निहच्योई—निश्चय करके। ३ तुअ—तेरे। ५ जगर मगर—

प्रकाशमान । ६ नेकु—धीरे से, थोड़ा सा । सुभाय—स्वाभाविक । ओरो—ओला, बर्फ । जगन—जागना । ६ बीधी सी—बिद्ध हुई सी । विमोहित—मोहित हुई, सम्मोहन मन्त्र का प्रयोग जिस पर किया गया हो । ६ गुन—रसी । चग—पतग । उरझि—उलझ कर । उतग—ऊपर उठना । परबीन—प्रवीण । पारधी—धनुष चलाने वाला, बहेलिया । अभग—अखण्ड, पूर्ण । १० चित चीतो—मनचाहा । चाय—प्रेम । १२ झगूला—बालकों का ढीला कुर्ता, झुलिया । बहरावैं—बहलाना, रिझाना । चटकारी—चुटकी बजाना । १४ अचूकिन—बिन चूके । ऊई—उठी । झूकनि—झोंके । १५ औचक—अचानक, अकस्मात् । जम्बू रस—जामुन का रस ।

१२—साँसनि ही सो समीर—शरीर का निर्माण जिन पाँच तत्वों से हुआ है, कवियों ने विरह की दशा मे इन पाँच तत्वों से निकल कर अपने शुद्ध रूप में मिल जाने की बाते कही हैं, इस सवैया मे कवि श्रेष्ठ देव भी यही बात कह रहे हैं ।

२०—इस अन्तिम छन्द में कवि ने मन की स्थिति का सुन्दर, साथ ही साथ विचारपूर्ण, जिसमे मनोविज्ञान की भी झलक है, वर्णन किया है ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

कृष्ण जन्म—सद्म—गृह, घर । अजिर—आँगन । जीह—जिह्वा, जीभ । रस-लेहन—रस लेने के लिए । विपणि—दूकान, बाजार । कुम्भ—घड़ा । सुमन-सकुल—फूलों से भरी हुई । शिखि पुच्छ—मोर की पाँख । मधुसिक्त—मधुर, मोह लेने वाली ।

वियोग उपालम्भ—मदीय—मेरी । ढिग—निकट । प्रवंचना—ठगना, धोखा । रसोदरा—जिसके उदर में रस भरा हो । कामद—कामनायें पूर्ण करने वाले । कामदुघा—कामधेनु ।

जानकी निर्वासन—कुत्साओं—नीचतायें ।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

अनारी—अनाड़ी, मूर्ख । अन्यारी—एकत्व का भाव, ब्रह्म हमारे भीतर है हमसे पृथक नहीं । बिलैहै—मिट जायेगी । १ त्रिकुटी-त्रिकुटी

साधन, नाक के ऊपर दोनों भौंह के बीच की जगह जहाँ योगी ध्यान लगाते हैं। ३ सासति—कष्ट। ४ मरीचे—किरणें। जुहारि—एकत्र कर। चिगारिन—चिनगारी, अग्नि। ५ लंकनि—कटि में। पाला—तुषार, शीत। ६ पानिप—चमक, शोभा। तपाक—जोश, तीव्र। गुमान—गर्व। ७ ऊरध—ऊर्ध्व। झरी—वृष्टि। ८ जिततित—जहाँ-तहाँ। सुरवारी—सुरीली। ६ हलबल—उतावली, जल्दी। चदहास—चद्रहास, तलवार। १० छाके—छके हुए। चकात—चकित, चौंकते हुए। सुधियात—सुधि करते, स्मरण करते, खोजते हुए। बहीलिनि—कुर्ते की बाँह। ११ थहरि—थरथरा कर। थिराए—स्थिर। १२ हुते—थे। उधिरानी—फैल गई। झार—अग्नि की लपटै। १३—घाम—धूप। सिवान—सिवाना, गाँव की सीमा। कसाले—कठिनाई। १४ द्रवे—पिघल रहा है। अचयो—पी गये।

गंगावतरण—वेग-वलित—बढ़ते हुए वेग से। बिहडति—उथल-पुथल मचाती हुई। धमक—धमाका, भय। भर के—चौंक उठे। बक—टेढ़े, तिरछे। दरेर—धक्का। धुधकार—भाषण ध्वनि करती हुई। चिलक—जल मे तैर डूबकर जल में चमक पैदा करना। उसावत—ओसाना, हवा मे उड़ा कर भूसा और अन्न अलग-अलग करना।

ताहि भृकुटी मे··· · दोनों भौंहों के बीच नाक के ठीक ऊपर ध्यान लगाने की योग की पद्धति, जिसे त्रिकुटी साधना कहते हैं।

बेग ब्रह्मद्रव उपद्रव—विष्णु के चरणोदक से गगा निकली जिसके धरातल पर आने मे प्रलय की स्थिति पैदा हो गई और यहाँ तो राधा की आँखों मे ही श्रीकृष्ण हैं उनके ससर्ग से जो जल निकलेगा यह तो उस ब्रह्मद्रव से और भी अधिक शक्तिपूर्ण होगा।

भानु तुरंग—सूर्य का सप्तश्रवा घोड़ा जिसके सात मुख हैं।

आवति गिराहै—सरस्वती कवि के लाड़-प्यार के लिए स्वय चली आ रही हैं और प्रेम-आनन्द की लहर उनके शरीर से निकल रही है कवि उसका मोहक चित्र दे रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त

साकेत वर्णन—केतुपट—ध्वजा का वस्त्र। अमर—देवता। गेहियों—घर मे रहने वालों के, गृहस्थों के। अट्ट—ऊँचा गृह, अट्टालिका। पौर—पुरकी। गवाक्ष—खिड़कियाँ। दामिनी—बिजली। पारावत—कबूतर—शिखी—मयूर।

उर्मिला का सौन्दर्य—कल्प-शिल्पी—सृष्टि निर्माता। शाण—सान। भवाब्धि—भवसागर।

उभय वरद.न—कमलाक्षि—कमल सी नेत्रावाली। उरगी—सर्पिणी। मेख—कीली।

सीता और उर्मिला—भीता—भयभीत। तपस्पृही—तप की इच्छा रखने वाले। गृही—गृहस्थ।

प्रकट मूर्तिमती उषा·· ···नारी सौन्दर्य की चरम भावना उषा के रूप और जीवनदायिनी प्रेरणा से मिलाई गई है। कर्म और आनन्द का उद्गम उषा है और उस कोटि की नारी भी सदैव आनन्ददायिनी है। किन्तु 'प्रसाद' इसके ठीक विपरीत सन्ध्या के साथ नारी की समता पैदा कर प्रकृति की विकृति दिखलाते हैं:—

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम··········
अरुण रविमण्डल ··· ······ ·········

जयशंकर प्रसाद

श्रद्धा.. मधुगुञ्जार—मधुर वाणी। मधुकरी—भ्रमरी। इन्द्रजाल, जादू—भ्रम। कुसुम—वैभव—वसन्त, चतुर्दिक फूले हुए फूलों की शोभा। अनुकृति—प्रतिरूप। मसृण—कोमल। अरुण—प्रात:काल का सूर्य, सूर्य के सारथी का नाम अरुण है।

श्रद्धा की कुटी—वातायान—झरोखें। प्राचीर—दीवार। अभ्र—मेघ। वेतसीलता—बेत। विभोर—तन्मय।

आरोहण—तमस—अन्धकार। विक्षत—टूटे-फूटे। कुञ्जर कलभ—हाथी के बच्चे। प्रवहमान—बहते रहना। चित्रपटी—जिस पर चित्र कराया जाय। निस्सम्बल—असहाय। भग्नाश—निराश।

अनूप

१ प्रकृति परतंत्रता—प्राकृतिक नियमो पर निर्भरता। प्राकृत —सासारिक। बलाक—बगला। बाग—रास। २—श्वसन-सगीत—वायु का सगीत। रोहिताश्व—अग्नि। उल्का—पुच्छल तारा। अनभ्र—मेघहीन। अशनि—वज्र-बिजली। ३ ऋक्षवृन्द—नक्षत्र समूह। ४ दीधिति—किरण। शोधक —शोध करनेवाला दिखलानेवाला। पुँछारे तारे—पुच्छल तारे। ५ पूषण—सूर्य। बितल—जल तल से नीचे। भचक्र—नक्षत्र मण्डल, कवि ने आकाश के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग किया है जिसके लिये खचक्र लिखना ठीक होता। आतप—काश, अग्नि। ६ रोदसी—अन्तरिक्ष मण्डल। नीड़—घोंसला। सौर—सूर्य के। यान—रथ, विमान। ८ समीर पथ—जहाँ तक वायु मण्डल है। गोल—ग्रह मण्डल। कक्ष—कक्षा, जिसमें ग्रह भ्रमण करता है। ६ द्विधा-दो प्रकार की। अभिभूत—पराजित। तन्त्र—ताना बाना। मुखर—शब्द पूर्ण। तिरोहित—छिपी। क्षामा—निर्बल। त्रिमाया—रात्रि। नियति—अदृष्ट, भावी। विसर्ग—उत्पत्ति, सृष्टि। जोव-अश्मक—अँगरेज़ी मे जिसे Fossils कहते हैं। अवट—कदरा, प्रस्तर युग की ओर सकेत। विसार—मछली। व्यक्ति—व्यक्त करने की शक्ति। गहन—वन। गहन—गम्भीर। पैन—यूनान के अर्ध मानव शरीरी देवता। १७ उपाशु—धीमे स्वर में, समीप में। २० कार्तान्तिक—ज्योतिषी। २६ अभीषु—लगाम। अलक्त—लाल, महावर। पर्य्याण—घोड़े की काठी। पादग्रहिणी—रिकाब। २७ हेषारव—घोड़े की बोली, हिनहिनाना। ३० निखात— खाई, नीची धरती। ३१ वैनतेय—गरुड पक्षी।

नील सम्पुटी ········चलता—सूर्य का पिण्ड इन्द्रनील या नीलकृष्ण माना जाता है।

मै भी आदि शक्ति-शक्ति ····। शाक्त-पद्धति मे दुर्गा आदि शक्ति मानी जाती है। त्रिदेवों और अन्य देवताओं को केवल उनका कलाश मिला है।

चलो मनोवेग··· ··। मन की गति अत्यन्त तीव्र है, भावना मात्र से मन अनेक योजन चला जाता है।

वैनतेय से—गरुड़ की गति तीव्र और अबाध है इसे विष्णु का यान कहते हैं।